पूर्ण योग में समता की महत्ता

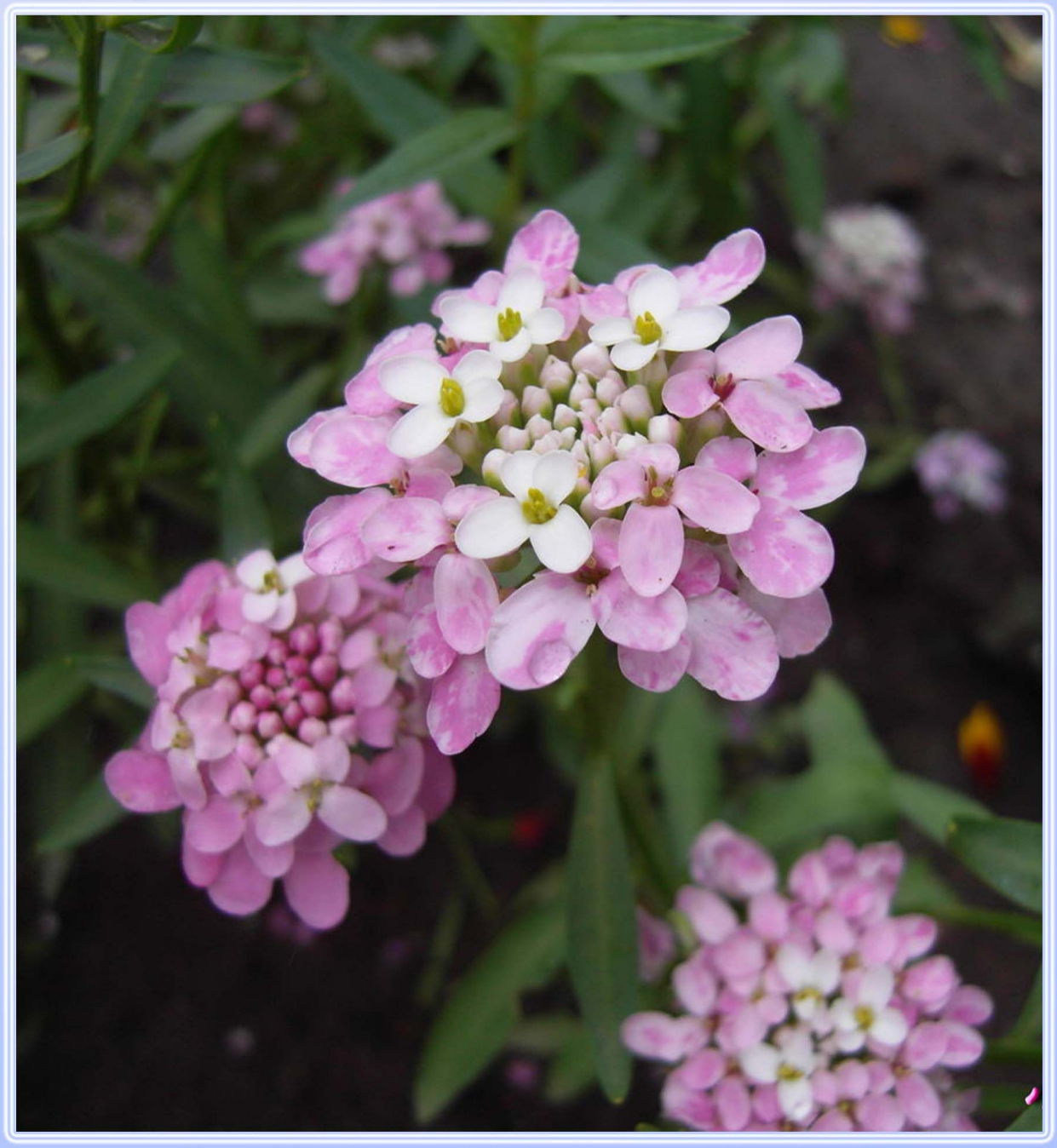

श्रीमाँ-श्रीअरविन्द की वाणी

श्रीअरविन्द सोसाइटी, जयपुर शाखा

जयपुर, राजस्थान

© श्रीअरविन्द एवं श्रीमाँ के समस्त लेखन तथा छायाचित्रों का प्रकाशनाधिकार श्रीअरविन्द आश्रम, पुदुच्चेरी द्वारा सुरक्षित ।

प्रकाशक : श्रीअरविन्द सोसायटी राजस्थान राज्य समिति, जयपुर ।

मुद्रक :

मूल्य :

मुखपृष्ठ का चित्र – 'समचित्तता' पुष्प (श्रीमाँ द्वारा दिया गया पुष्प का नाम)

Purna yoga mein Samata ka Mahatwa (Hindi)

A compilation from writings of the Mother and Sri Aurobindo

Published by : Sri Aurobindo Divine Manifestation and Education Trust, Jaipur, Rajasthan

Printed at :

Printed in India

Website :

E-mail :

विषय-सूची

1. साधना का आधार — श्रीअरविन्द ... 3
2. अतिमानसिक सम्पर्क की पहचान — श्रीमाँ ... 4
3. अतिमानस और समता — श्रीमाँ ... 4
4. साधना का मुख्य अवलम्ब — श्रीअरविन्द ... 5
5. समता तथा सत्य के प्रति निष्ठा — श्रीअरविन्द ... 7
6. समता तथा अहंकार — श्रीअरविन्द ... 8
7. कष्ट और कठिनाई में समता — श्रीअरविन्द ... 8
8. प्रथम आवश्यकता... — श्रीअरविन्द ... 10
9. गीता में समता का महत्व — श्रीअरविन्द ... 10
10. समता का प्रभाव — श्रीअरविन्द ... 15
11. तीन शर्तें — श्रीअरविन्द ... 17
12. कर्मयोग का सिद्धान्त — श्रीअरविन्द ... 18
13. मन की समचित्तता — श्रीअरविन्द ... 18
14. सात्विक मनुष्य... — श्रीअरविन्द ... 19
15. समता और शान्ति... — श्रीअरविन्द ... 19
16. यौगिक मनोवृति — श्रीअरविन्द ... 19
17. वैश्व शक्तियों के पीछे... — श्रीअरविन्द ... 20
18. साधकों में अहंकार... — श्रीअरविन्द ... 20
19. श्रीमाँ की प्रार्थना और समत्व — श्रीमाँ ... 21
20. श्रीमाँ की शान्ति — श्रीअरविन्द ... 22
21. श्रद्धा की समस्या — श्रीअरविन्द ... 22
22. भौतिक में अवतरण — श्रीअरविन्द ... 23
23. समचित्तता का आधार — श्रीमाँ ... 24
24. समता में है निर्विकार... — श्रीमाँ ... 25
25. समता और अनासक्ति... — श्रीअरविन्द ... 25
26. समुचित मनोवृति — श्रीअरविन्द ... 26
27. विरोधी शक्तियाँ — श्रीमाँ ... 27
28. प्राणिक सत्ताएं — श्रीमाँ ... 28
29. योग के लिए अनिवार्य... — श्रीमाँ ... 29
30. समचित्तता — श्रीमाँ ... 29
31. पीड़ा और समचित्तता — श्रीमाँ ... 30
32. विकर्षण और समचित्तता — श्रीमाँ ... 30
33. सामान्य जीवन... — श्रीमाँ ... 31
34. समस्याएं और समता — श्रीमाँ ... 33
35. सहिष्णुता और समता — श्रीमाँ ... 33
36. श्रद्धा बनाये रखो — श्रीमाँ ... 34
37. अग्नि परीक्षाओं का सामना — श्रीमाँ ... 35
38. भागवत उपस्थिति... — श्रीमाँ ... 35
39. हमेशा स्थिर और शान्त... — श्रीमाँ ... 36
40. आत्मा की समता — श्रीअरविन्द ... 37
41. आत्मा की मुक्ति... — श्रीअरविन्द ... 41
42. प्राणिक सत्ता की महिमा — श्रीअरविन्द ... 42

43. मानस के आत्मन में — श्रीअरविन्द ... 42
44. भगवान — श्रीअरविन्द ... 43
45. नियति का निर्णय... — श्रीअरविन्द ... 44
46. समता की पूर्णता -1 — श्रीअरविन्द ... 46
47. समता की पूर्णता -2 — श्रीअरविन्द ... 49

साधना का आधार

प्रश्न : कब ऐसा कहा जा सकता है कि साधक ने साधना में अपने आधार को स्थापित कर लिया है ?

उत्तर : जब वह एक स्थिरता, समता, भक्ति उपलब्ध कर लेता है और जब आध्यात्मिक अनुभूतियाँ अविरल रूप से आने लगती हैं।

प्रश्नः प्रकृति में शान्ति तथा समता स्थापित करने की सही विधि क्या है?

उत्तर : शान्ति तथा समता तुम्हारे ऊपर रहती हैं, तुम्हें उन्हें नीचे मन, प्राण तथा शरीर में बुलाना है। और जब -कभी कुछ चीज व्यवधान डाले तब तुम्हें व्यवधान डालनेवाली चीज तथा व्यवधान को इनकार करना है।

प्रश्न : क्या स्थिरता तथा समता ऊपर से श्रीमाँ की कृपा से आती हैं ?
उत्तर : जब ये अवरोहण करती हैं तब यह आत्मा की अभीप्सा तथा श्रीमाँ की कृपा से ही होता है।

प्रश्न : प्रकृति में समता प्रतिष्ठित हो चुकी है इसका सच्चा संकेत क्या है ? क्या यह बाहर से या अन्दर से आनेवाली समस्त बाधा को पूर्ण स्थिरता के साथ तथा किसी उपाय किये बिना ग्रहण करना है ?

उत्तर : इसका संकेत है बिना विक्षुब्ध हुए इसका सामना करना तथा स्थिरतापूर्वक इसे इनकार करना। इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता कि व्यक्ति ने कोई उपाय किया या नहीं किया। केवल जब व्यक्ति इसके विरुद्ध क्रिया करता है तब उसे स्थिरतापूर्वक, क्रोध या उत्तेजना, वेदना या किसी अन्य विक्षुब्धकारी गति के बिना करना चाहिये।

प्रश्न : जब किसी व्यक्ति ने समता प्राप्त कर ली है तब क्या हम कह सकते हैं कि वह अहंकार से मुक्त है ?
उत्तर : समता का अर्थ अहंकार शून्यता नहीं है बल्कि कामना तथा आसक्ति की अनुपस्थिति है। अहं भाव जा सकता है या सूक्ष्म या घनीभूत रूप में रह सकता है - यह व्यक्ति के ऊपर निर्भर करता है।

Elements of Yoga, pp.10-11 — श्रीअरविन्द

पूर्ण समता :
अतिमानसिक सम्पर्क की पहचान

दो अकाट्य चिह्न यह सिद्ध करते हैं कि व्यक्ति अतिमानसिक जगत के सम्पर्क में है :

(१) एक पूर्ण तथा अविरल समता।
(२) ज्ञान में परम निश्चितता।

पूर्ण बनने के लिए समता सभी परिस्थितियों में, सभी घटनाओं , सम्पर्कों के प्रति — भौतिक हो या मनोवैज्ञानिक, चाहे उनका स्वरूप और प्रभाव कुछ भी हो — अपरिवर्तनीय, स्वाभाविक तथा सहज होनी चाहिये।

तादात्म्य के द्वारा भ्रमातीत ज्ञान की परम तथा निर्विवाद निश्चितता।

सभी परिस्थितियों में, भौतिक या मनोवैज्ञानिक, एक पूर्ण समता तथा ज्ञान में चरमता — एक ऐसा ज्ञान जो मन द्वारा नहीं बल्कि तादात्म्य द्वारा प्राप्त किया गया हो।

अतिमानसिक जगत के सम्पर्क में रहनेवाले व्यक्ति में ये दोनों विशेषताएं होती हैं।...

CWM : Vol. 15, pp. 102-103 — श्रीमाँ

अतिमानस और समता

यह कहा जा सकता है कि अतिमानस को पार्थिव चेतना के माध्यम से अपने आप को अभिव्यक्त करने के लिए जिस सतत स्थिति की आवश्यकता होती है वह है पूर्ण समता जो परम के साथ आध्यात्मिक तादात्म्य से प्राप्त होती है। हर चीज पूर्ण समता में परम बन जाती है। और यह स्वचालित होती है - न कि प्राप्त होती है सचेतन संकल्प द्वारा, बौद्धिक प्रयास या उस स्थिति से पूर्व एक ज्ञान द्वारा ; ऐसा नहीं है। इसे स्वतः-प्रवर्तित तथा स्वचालित होना चाहिये। व्यक्ति को बाहर से आनेवाली हर चीज का प्रत्युत्तर अब और नहीं देना चाहिये। इसके स्थान पर होना चाहिये सतत प्रत्यक्ष ज्ञान — जिसे मैं उसी के समरूप नहीं कह सकती क्योंकि प्रत्येक चीज आवश्यक रूप से एक विशेष प्रत्युत्तर की मांग करती है — किन्तु किसी भी प्रतिक्रिया से मुक्त। यदि व्यक्ति ऐसा कह सके। यह है अन्तर,एक,जो बाहर से आता है, जो तुम पर प्रहार करता है और जिसका तुम प्रत्युत्तर देते हो और दूसरा, कुछ ऐसी चीज जो संचरण कर रही है और बिलकुल स्वाभाविक रूप से अपने साथ सामान्य क्रिया के लिए आवश्यक कम्पन लाती है। मैं नहीं जानती कि मैं अपनी बात स्पष्ट रूप से समझा पा रही हूँ कि नहीं . . . यह क्रिया के एकात्मक क्षेत्र में संचरण करती कम्पनशील गति तथा कुछ बाहरी चीज से आती हुई गति, बाहर से प्रहार करती तथा प्रत्युत्तर पाती हुई गति — जो मानव चेतना की साधारण स्थिति होती है

— के बीच का अन्तर है। दूसरी ओर, जब चेतना परम के साथ तदात्म हो जाती है तब कहना चाहिये कि गतिविधियाँ आन्तरिक हो जाती हैं, इस अर्थ में कि बाहर से कुछ नहीं आता। केवल वे ही चीजें रहती हैं जो संचारित होती हैं और अपने संचरण के क्रम में स्वाभाविक रूप से सादृश्य तथा आवश्यकता के द्वारा कुछ कम्पन लाती हैं अथवा संचरण के माध्यम में कम्पन को बदल देती हैं।...

CWM : Vol 10, p. 115 — श्रीमाँ

समता — साधना का मुख्य अवलम्ब

समता के बिना साधना में दृढ़ आधार नहीं बन सकता। परिस्थितियाँ चाहे कितनी भी अप्रिय हों, दूसरों का व्यवहार चाहे कितना भी अरुचिकर हो, तुम्हें पूर्ण स्थिरता के साथ तथा किसी विक्षुब्धकारी प्रतिक्रिया के बिना उन्हें ग्रहण करना होगा। ये चीजें समता की कसौटी हैं। जब चीजें ठीक-ठाक हों तथा लोग और परिस्थितियाँ सुखद हों तब स्थिर-चित्त रहना आसान है। जब ये प्रतिकूल हों तब स्थिरता, शान्ति, समता की जाँच की जा सकती है, उन्हें सुदृढ़ तथा पूर्ण बनाया जा सकता है ।

***

यौगिक समता आत्मा की समता होती है, ऐसी समचित्तता जो एकमेव आत्मन के बोध पर आधारित हो — एक ही भगवान सर्वत्र है — अभिव्यक्ति में सभी विभिन्नताओं, मात्राओं, विषमताओं के बावजूद सब में उसी एकमेव के दर्शन करना। समता का मानसिक सिद्धान्त विभिन्नताओं, मात्राओं, विषमताओं को अनदेखा या समाप्त करने का प्रयास करता है, इस प्रकार की क्रिया करने का प्रयास करता है मानों सभी एक समान हैं या सबको एक समान बनाने का प्रयास करता है। यह रामकृष्ण के भतीजे हृदय की तरह है जो रामकृष्ण का स्पर्श पाने के बाद चिल्लाने लगा, ''रामकृष्ण, तुम ब्रह्म हो और मैं भी ब्रह्म हूँ। हम दोनों में कोई अन्तर नहीं है।'' जब वह शान्त नहीं हुआ तब रामकृष्ण को शक्ति वापस ले लेनी पड़ी। या यह उस शिष्य की तरह है जो महावत की बात नहीं मानकर और हाथी के सामने खड़ा होकर कहने लगा,''मैं ब्रह्म हूँ'' । जब वह हाथी के सामने से नहीं हटा तब हाथी ने उसे अपनी सूंढ़ से हटाकर अलग कर दिया। जब उसने अपने गुरु से शिकायत की तब गुरु ने कहा, ''हाँ, लेकिन तुमने महावत ब्रह्म की बात क्यों नहीं सुनी? इसीलिए हाथी ब्रह्म ने तुम्हें अपने मार्ग से उठाकर अलग कर दिया और हानि से बचा लिया। अभिव्यक्ति में सत्य के दो पक्ष होते हैं और तुम किसी की भी उपेक्षा नहीं कर सकते।

समता है सभी अवस्थाओं में अचल बने रहना।

***

समता सच्ची आध्यात्मिक चेतना का प्रधान अवलम्ब है और साधक इसी से तब विचलित हो जाता है जब वह भावना में या वचन में या कर्म में अपने को प्राणिक आवेग द्वारा प्रवाहित हो जाने देता है। समता वही

चीज नहीं है जो सहिष्णुता है यद्यपि निस्सन्देह एक सुदृढ़ समता असीम रूप से व्यक्ति की सहन शक्ति को विस्तारित कर देती है।

समता का अर्थ है एक अचंचल तथा अचल मन और प्राण। इसका अर्थ होता है जो घटनाएं तुम्हारे साथ होती हैं या जो कुछ तुम्हें कहा जाता है उनसे अछूता या अक्षुब्ध रहना और व्यक्तिगत भावना द्वारा निर्मित विकृतियों से मुक्त होकर उन पर सीधी नजर डालना औऱ यह समझने की कोशिश करना कि उनके पीछे क्या है, वे क्यों होती हैं, उनसे क्या सीखने की चीज है, अपने अन्दर वह क्या चीज है जिसकी ओर उन्हें प्रेषित किया गया, और उनसे क्या आन्तरिक लाभ या प्रगति की जा सकती है। इसका अर्थ होता है प्राणिक गतिविधियों — क्रोध, भावुकता, अभिमान, कामना तथा अन्य पर आत्म संयम रखना, भावनात्मक पुरुष पर उन्हें हावी होकर आन्तरिक शान्ति को विचलित नहीं करने देना, इन चीजों के आवेग और हड़बड़ी में कुछ बोलने या करने से बचना और हमेशा आत्मा के स्थिर आन्तरिक भाव में ही कुछ बोलना या करना। पूर्णता की दृष्टि से ऐसी समता प्राप्त करना आसान नहीं है, परन्तु व्यक्ति को हमेशा इसे अपनी आन्तरिक स्थिति तथा बाहरी गतिविधियों का आधार बनाने का प्रयास करना चाहिये।

समता का अर्थ एक दूसरी चीज है — व्यक्तियों तथा उनकी प्रकृति, उनकी क्रियाओं तथा उन्हें संचालित करनेवाली शक्तियों के विषय में एक सम दृष्टि रखना। इससे मन से अपनी दृष्टि एवं निर्णय के अनुसार सभी व्यक्तिगत भावनाओं तथा मानसिक पूर्वाग्रहों को भी निकाल कर सत्य को देखने में सहायता मिलती है। व्यक्तिगत भावना हमेशा तोड़-मरोड़ करती है औऱ व्यक्ति को दूसरों की क्रियाओं में तथा उनके पीछे की चीजों में ऐसी चीजें दिखाती हैं, जो प्रायः होतीं नहीं । इसका परिणाम होता है गलतफहमी, गलत निर्णय जिन्हें टाला जा सकता था। छोटे परिणाम की चीजें बृहत् अनुपात ग्रहण कर लेती हैं। मैंने देखा है कि जीवन में इस प्रकार की आधा से अधिक अवांछनीय घटनाएं इसी कारण से होती हैं। परन्तु सामान्य जीवन में व्यक्तिगत भावना तथा भावुकता प्रकृति के अभिन्न अंग बन जाते हैं, औऱ आत्म रक्षा के लिए उनकी आवश्यकता भी हो सकती है। यद्यपि, जैसा कि मैं समझता हूँ, लोगों और चीजों के प्रति एक सुदृढ़, बृहत् तथा सम मनोवृति कहीं अधिक उत्तम सुरक्षा पंक्ति हो सकती है। परन्तु, साधक के लिए, उन पर विजय पाना और आत्मा की स्थिर शक्ति में निवास करना उसकी प्रगति का आवश्यक अंग है।

आन्तरिक प्रगति की पहली शर्त है प्रकृति के किसी भाग में जो अनुचित गति है या हो चुकी है उसे पहचानना, मान लेना, — अनुचित विचार, अनुचित भावना, अनुचित वचन, अनुचित क्रिया — और अनुचित का अर्थ है सत्य से, उच्चतर चेतना से तथा उच्चतर आत्मरूप से, भगवान के मार्ग से, हट जाना। एक बार पहचान लेने के बाद इसे स्वीकार कर लिया जाना चाहिये — इसे महिमान्वित या इसकी सफाई न दी जाये — तथा ज्योति और कृपा के अवरोहण करने तथा उनके स्थान पर सच्ची चेतना की उचित गति स्थापित करने के लिए भगवान को समर्पित कर दिया जाना चाहिये।

सम्पूर्ण समता स्थापित करने में लम्बा समय लगता है और यह तीन चीजों पर निर्भर करता है — आन्तरिक समर्पण द्वारा आत्मा का भगवान के प्रति आत्मदान, ऊपर से आध्यात्मिक स्थिरता तथा शान्ति का अवरोहण और अहंकारात्मक, राजसिक तथा समता की अन्य विरोधी भावनाओं का आग्रहपूर्वक, दृढ़ता के साथ दीर्घकालिक त्याग।

पहली चीज करने की है हृदय में पूर्ण निवेदन तथा समर्पण। अहंकार, रजोगुण आदि के त्याग को प्रभावी बनाने की शर्त है आध्यात्मिक स्थिरता तथा आत्म-समर्पण।

समता तथा सत्य के प्रति निष्ठा

निस्सन्देह घृणा तथा निन्दा समुचित मनोवृति नहीं है। यह भी सत्य है कि सभी चीजों तथा सभी लोगों को एक स्थिर तथा निर्मल दृष्टि से देखना, अपने निर्णय में निष्पक्ष रहना बिलकुल समुचित यौगिक दृष्टिकोण है। एक ऐसी पूर्ण समता की स्थिति स्थापित की जा सकती है जिसमें व्यक्ति सब को, मित्र और शत्रु को, समान भाव से देखता हो और इस बात से विक्षुब्ध नहीं होता कि लोग क्या करते हैं या क्या होता है। प्रश्न यह है कि क्या यही सब कुछ है जिसकी हम सब से मांग की जाती है। यदि ऐसा है तब सामान्य मनोवृति होगी प्रत्येक चीज के प्रति निष्पक्ष, उदासीनता या उपेक्षा का भाव। परन्तु गीता, जो एक पूर्ण तथा सर्वोच्च समता पर बल देती है, निरन्तर कहती है, ''युद्ध करो, शत्रु को नष्ट करो, विजय प्राप्त करो।'' यदि किसी प्रकार की सामान्य क्रिया की, अपनी व्यक्तिगत साधना के अतिरिक्त मिथ्यात्व के विरुद्ध सत्य के प्रति निष्ठा की, सत्य की विजय के लिए कोई संकल्प करने की आवश्यकता नहीं है तब उदासीनता की समता पर्याप्त होगी। परन्तु यहाँ एक कार्य करने की आवश्यकता है, एक सत्य की स्थापना करनी है जिसके विरुद्ध अपरिमित शक्तियाँ और अदृश्य शक्तियाँ संघटित की गई हैं जो अपने यन्त्र के रूप में दृश्य चीजों, व्यक्तियों तथा क्रियाओं का प्रयोग करती हैं। यदि व्यक्ति (हमारे) शिष्यों में से, इस सत्य के जिज्ञासुओं में से एक है तब उसे सत्य का पक्ष लेना होगा, उन शक्तियों के विरुद्ध खड़ा होना होगा जो इस पर आक्रमण करती हैं और इसे कुचलना चाहती हैं। अर्जुन किसी पक्ष में भी खड़ा होना नहीं चाहता था, किसी प्रकार का विरोध, आक्रमणकारियों के विरुद्ध भी कोई क्रिया करना नहीं चाहता था। श्रीकृष्ण ने, जिन्होंने समता पर इतना बल दिया है, उसकी मनोवृति पर बहुत फटकारा और शत्रुओं से युद्ध करने पर उतना ही बल दिया। उन्होंने कहा, ''समता रखो तथा सत्य को स्पष्ट देखते हुए युद्ध करो।'' इसलिए सत्य का पक्ष लेना तथा आक्रमणकारी मिथ्यात्व को मान लेने से इनकार करना, सत्य के प्रति निष्ठावान होकर आक्रमणकारियों के विरुद्ध खड़ा होना समता के साथ असंगत नहीं है। व्यक्तिगत तथा अहंकारात्मक भावना को छोड़ना है, घृणा तथा प्राणिक दुर्भावना को त्यागना है। परन्तु निष्ठा तथा आक्रमणकारियों और विरोधियों के साथ युद्ध से इनकार अथवा उनके विचारों तथा मांगों के साथ खिलवाड़ करना और कहना, ''फिर भी, हम उनकी अपेक्षाओं के साथ सन्धि कर सकते हैं'' या अपने साथियों तथा अपने लोगों के समान उन्हें स्वीकार कर सकते हैं — इन चीजों का बड़ा महत्व है। यदि आक्रमण कार्य के लिए तथा कार्य के नेताओं के लिए भौतिक संकट होता, व्यक्ति तुरन्त इसे देख लेता। परन्तु क्योंकि आक्रमण अधिक सूक्ष्म किस्म का है, क्या निष्क्रिय मनोवृति उचित है ? यह आध्यात्मिक युद्ध है आन्तरिक और बाह्य। निष्पक्षता तथा सन्धि द्वारा अथवा निष्क्रियता द्वारा व्यक्ति शत्रु की शक्तियों को आने तथा सत्य और इसके बच्चों को कुचलने की छूट दे सकता है। यदि तुम इस दृष्टिकोण से इसे देखो तब तुम अनुभव करोगे कि यदि आध्यात्मिक समता उचित है, सक्रिय निष्ठा तथा दृढ़तापूर्वक उसका पक्ष लेना उतना ही उचित है और दोनों असंगत नहीं हो सकते।

मैंने निस्सन्देह सभी विशेष मामलों या व्यक्तिगत प्रश्नों के अलावा एक सामान्य प्रश्न के समान इस पर विचार किया है। यह क्रिया के सिद्धान्त का प्रश्न है जिसे उचित प्रकाश तथा अनुपात में देखा जाना चाहिये।

***

बिना विक्षुब्ध हुए आक्रमण का सामना करना तथा स्थिरतापूर्वक इसे इनकार करना ही समता है। इससे कोई फर्क नहीं पड़ना चाहिये कि व्यक्ति इसे दूर कर पाता है या नहीं। केवल जब व्यक्ति इसके विरुद्ध क्रिया करता है तो उसे स्थिरतापूर्वक, क्रोध, उत्तेजना, दुःख या किसी अन्य विक्षुब्धकारी गति के बिना करना होगा।

समता तथा अहंकार

समता का अर्थ अहंकार की अनुपस्थिति नहीं है बल्कि यह कामना तथा आसक्ति की अनुपस्थिति है।

***

मैंने कहा है कि ''समता'' से कामना तथा आसक्ति की अनुपस्थिति प्रदर्शित होती है - अहं का बोध जा सकता है या यह सूक्ष्म तथा विस्तृत रूप में रह सकता है - यह व्यक्ति पर निर्भर करता है।

***

कष्ट और कठिनाई में समता

समता इस योग का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण अंग है। वेदना और कष्ट में समता बनाये रखना आवश्यक है — और इसका अर्थ है दृढ़तापूर्वक तथा स्थिरतापूर्वक सहन करना, बेचैन या उदास या निराश नहीं होना और भागवत संकल्प में श्रद्धा बनाये रखना। परन्तु समता में निष्क्रिय स्वीकृति नहीं आती। उदाहरण के लिए, यदि साधना में कोई प्रयास थोड़ी देर के लिए विफल हो जाता है, तब व्यक्ति को समता बनाये रखना चाहिये, दुःखी या निराश नहीं होना चाहिये, परन्तु विफलता को भागवत संकल्प का संकेत समझ कर प्रयास करना छोड़ देना नहीं चाहिये। बल्कि तुम्हें विफलता का कारण तथा तात्पर्य जानना चाहिये तथा श्रद्धा के साथ विजय की ओर आगे बढ़ना चाहिये। यही बात रोग के साथ भी है — तुम्हें दुःखी नहीं होना चाहिये, घबराना और बेचैन होना नहीं चाहिये और रोग को भागवत संकल्प नहीं समझ कर इससे मुक्त होने का उपाय करना चाहिये जैसे तुम प्राणिक अपूर्णताओं या मानसिक गलतियों से छुटकारा पाने का प्रयास करते हो।

सभी प्राथमिकताओं से मुक्त होना तथा भागवत संकल्प से आनेवाली हर चीज को आनन्द के साथ ग्रहण करना किसी भी मनुष्य के लिए आरम्भ में सम्भव नहीं होता। सबसे पहले हमारे मन में यह निरन्तर धारणा बन जानी चाहिये कि भगवान का संकल्प हमेशा सर्वोत्तम के लिए होता है — चाहे मन इसे स्वीकार न करे कि ऐसा कैसे हो सकता है — और प्रसन्नतापूर्वक जिसे अभी स्वीकार नहीं कर सकते उसे अर्पण भाव से स्वीकार कर लेना चाहिये तथा एक ऐसी स्थिर समता प्राप्त करनी चाहिये जिसे सतह पर की बाहरी घटनाओं के प्रति क्षणिक प्रतिक्रिया की लहरें डिगा न सकें। यदि एक बार यह स्थापित हो जाये तब शेष चीजें आ सकती हैं।

***

यह बहुत अच्छी बात है कि तुम्हें ऐसी अनुभूति हुई, क्योंकि समता के साथ इस प्रकार की चेतना अवश्य अर्जित की जानी चाहिये जिस पर श्रीमाँ से परिपूर्ण एक सुदृढ़ यौगिक चेतना निर्मित की जा सके। यदि यह स्थायी बनायी जा सके तब साधना की अधिकांश कठिनाइयाँ दूर हो जाती हैं — सभी आवश्यक परिवर्तन शान्तिपूर्वक इन व्यवधानों तथा गड़बड़ पैदा करनेवाली स्थितियों के बिना जो प्रगति में बाधक हैं, आगे बढ़ सकते हैं। इसमें एक उचित एवं स्पष्ट रूप से, लोगों और चीजों के बारे में तथा उनके साथ बिना अनबन के या संघर्ष के कैसे निपटा जाये, यह समझ भी बढ़ सकती है जिससे कार्य को अधिक आसान बनाया जा सकता है। एक बार यदि यह चेतना आ चुकी हो तब निश्चय ही यह पुनः लौटकर आयेगी और बढ़ेगी।

एक दृढ़ मानसिक नियन्त्रण द्वारा प्राप्त समता से सांसारिक मनुष्य सब तरह की कठिनाई झेल सकता है, किन्तु वह समता नहीं है, तितिक्षा है, सहन शक्ति, जो केवल समता का पहला पग या प्रथम तत्व है।

***

केवल आकाश और सागर के सम्पर्क में रहने पर जो तुम्हें समता, नीरवता तथा स्वाधीनता प्राप्त होती है वह पर्याप्त नहीं है। तुम्हें हर समय इसे ऊपर से ग्रहण करने में समर्थ होना चाहिये — तभी साधना का सच्चा आधार बनेगा।

***

तुम्हें अपने भीतर समचित्तता का एक आधार स्थापित करना होगा - आन्तरिक सत्ता की शान्ति जिसे सतही क्रियाएं स्पर्श नहीं कर सकतीं - तब यदि ये सतह पर आती हैं, उग्र प्रतिक्रिया नहीं होगी और उन्हें अधिक आसानी से इनकार किया जा सकता है।

साधक को सभी परिस्थितियों में अचंचलता, निष्ठा तथा समचित्तता बनाये रखना है, जब उच्चतर चेतना तथा अनुभूति नहीं भी आई हो।

***

सम्पूर्ण सत्ता में एक पूर्ण आध्यात्मिक समचित्तता प्रकृति के पर्यावरण से आनेवाली सभी बाधाओं के विरुद्ध एक सुनिश्चित रक्षा कवच होती है।

Letters on Yoga - II CWSA : Vol. 29, pp 129-36 — श्रीअरविन्द

प्रथम आवश्यकता — आधारभूत सन्तुलन

चीजों, संघातों तथा प्रकृति की कार्य प्रणालियों को समझने और उनसे निपटने के लिए तात्विक तथा प्राकृतिक इसकी दोनों सत्ताओं में आत्मा का कुछ आधारभूत सन्तुलन पहली आवश्यकता है। यह सन्तुलन हमें प्राप्त होता है एक पूर्ण समता में विकसित होने के बाद। आत्मन या ब्रह्म सब में एक है और इसलिए सब के प्रति एक है। यह सम ब्रह्म है ''समं ब्रह्म'' जैसा कि गीता ने समता की इस धारणा को पूरी तरह विकसित किया है और इसके अनुभव की ओर कम से कम समता के एक पक्ष पर, संकेत किया है। गीता, एक श्लोक में और आगे जाकर समता और योग को एक ही बताती है — ''समत्वं योग उच्चते''। यानी समता ब्रह्म के साथ एकता का चिह्न है, ब्रह्म बन जाने, अनन्त में सत्ता के अक्षुब्ध आध्यात्मिक सन्तुलन में विकसित होने का संकेत है। इसके महत्व को शायद ही अतिरंजित किया जा सकता है। क्योंकि यह इस
बात का संकेत है कि हमलोग अपनी प्रकृति के अहंकारात्मक निश्चयों से आगे जा चुके हैं, दुःख-सुख के प्रति अपनी दासवत प्रतिक्रियाओं को जीत लिया है, त्रिगुणों के बदलते हलचलों का अतिक्रमण कर लिया है तथा मुक्ति की स्थिरता तथा शान्ति में प्रवेश कर चुके हैं। समता चेतना का एक नाम है जो हमारी सम्पूर्ण सत्ता में और प्रकृति में अनन्त की शाश्वत प्रशान्ति ले आती है। इसके अतिरिक्त, यह सुरक्षित रूप से तथा पूर्ण रूप से भागवत कर्म की शर्त्त है। इस पर अनन्त के वैश्व कर्म की सुरक्षा तथा विशालता आधारित है और इसकी शाश्वत प्रशान्ति कभी भंग नहीं होती। एक पूर्ण आध्यात्मिक कर्म का भी यही गुण होना चाहिये — भावना, बुद्धि, मन, हृदय तथा स्वाभाविक चेतना में सभी वस्तुओं के प्रति समता और एकता, भौतिक चेतना में भी — तथा अपनी सभी कार्य-प्रणालियों में, करणीय चीजों के साथ बाहरी अनुकूलन जो भी करना हो — हमेशा दिव्य समता तथा स्थिरता का निश्चित रूप से पालन।

Synthesis of Yoga : pp. 692-93 — श्रीअरविन्द

गीता में समता का महत्व

समता एक संकेत तथा अभीप्सु के लिए परीक्षा भी है। जहाँ आत्मा में असमता है वहाँ स्पष्ट रूप से प्रकृति के त्रिगुणों की कुछ विषम क्रीड़ा होती है, कामना की गति, व्यक्तिगत संकल्प, भावना, क्रिया, हर्ष और विषाद की गतिविधि या एक ऐसा विक्षुब्ध या व्याकुल करनेवाला आनन्द जो सच्चा आध्यात्मिक आनन्द नहीं बल्कि एक मानसिक तृप्ति होती है और यह अनिवार्य रूप से अपने अनुक्रम में अपना एक प्रतिपक्ष या मानसिक तुष्टि के प्रति एक झिझक ले आती है। जहाँ भी आत्मा की विषमता होती है, वहाँ ज्ञान पथ से भटकाव होता है, वहाँ ब्रह्म के सर्वसमाविष्टकारी तथा सर्व समन्वयक एकत्व तथा वस्तुओं की एकता में दृढ़ निष्ठा का अभाव होता है। कर्मयोगी अपनी समता के द्वारा अपने कर्म में रत रहते हुए भी जानता है कि वह मुक्त है।

समता की आध्यात्मिक प्रकृति ही, जो अपने स्वभाव में और ज्ञान में उच्च तथा विश्वव्यापक है, गीता के उपदेश को इस विषय में विशेष महत्व प्रदान करती है। क्योंकि अन्यथा समता का उपदेश मात्र अपने आप में मन, भावना तथा स्वभाव की सर्वथा वांछनीय स्थिति के रूप में, जिसमें हम मानव दुर्बलता से ऊपर उठ जाते हैं, गीता के लिए कोई नयी चीज नहीं है। समता को दार्शनिक आदर्श तथा ऋषियों के विशिष्ट स्वभाव के रूप में हमेशा श्रद्धा की दृष्टि से देखा गया है। गीता निश्चय ही इस दार्शनिक आदर्श को स्वीकार करती है परन्तु इसे उठा कर अत्यन्त परे के ऐसे उच्चतर लोक में ले जाती है जहाँ हम अपने को एक विशालतर तथा शुद्धतर वायुमंडल में श्वास लेते हुए पाते हैं। आत्मा का तितिक्षु भाव तथा दार्शनिक सन्तुलन-भाव आवेगों के बवण्डर तथा कामना के झटकों से ऊपर देवों की नहीं, बल्कि स्वयं भगवान की शांति और आनन्द की ओर आरोहण में प्रथम और दूसरे पग हैं। तितिक्षु समता, चरित्र को अपना केन्द्र-बिन्दु बना कर, संयमित सहिष्णुता द्वारा प्राप्त आत्म प्रभुता की आधारशिला पर अपने को स्थापित करती है। अधिक सुखद तथा शान्तिप्रद दार्शनिक समता, आत्म प्रभुता पाना पसन्द करती है ज्ञान द्वारा, अनासक्ति द्वारा, एक उच्च बौद्धिक उदासीनता द्वारा, जो विक्षुब्धताओं से परे है जिसके प्रति हमारी प्रकृति प्रवृत्त रहती है — *उदासीनवद् आसीनः* — जैसा कि गीता कहती है। एक धार्मिक या ईसाई समता भी है जो भागवत संकल्प के समक्ष एक सतत घुटने टेकना या प्रणिपात होकर आत्म-समर्पण कर देना है। ये हैं तीन पग और साधन जो भागवत शान्ति, वीरोचित सहिष्णुता, सन्तवत् उदासीनता, धर्मनिष्ठ समर्पण की ओर ले जाते हैं — *तितिक्षा, उदासीनता, नमस या नति*। गीता इन सब को अपनी बृहत् समन्वयकारी विधि से आत्मा की ओर अपनी ऊर्ध्व गति में लीन कर देती है परन्तु साथ ही प्रत्येक को एक गहन आधार, एक बृहत्तर दृष्टिकोण, एक अधिक विश्वव्यापक तथा विश्वातीत महत्व प्रदान करती है।...

जो क्रियाशीलता हमें निम्न प्रकृति की क्षुब्धताओं से मुक्त करेगी उसे आवश्यक रूप से मन में, भावना में तथा आत्मा में समता की ओर ले जानेवाली क्रियाशीलता होनी चाहिये। किन्तु यह ध्यान देने की बात है कि यद्यपि अन्त में हमें निम्न प्रकृति के तीनों गुणों से ऊपर उठना होगा, फिर भी, आरम्भ में तीनों में से किसी एक का आश्रय लेकर ही उस क्रियाशीलता को आगे बढ़ा सकते हैं। समता का आरम्भ सात्विक, राजसिक या तामसिक हो सकता है, क्योंकि मानव प्रकृति में तामसिक समता की सम्भावना होती है। यह पूर्ण रूप से तामसिक समता, प्राणिक स्वभाव की नीरस एकरूपता हो सकती है जो जीवन के आनन्द के प्रति कामनारहित और असंवेदनशील होने के कारण अस्तित्व के आघातों का प्रत्युत्तर न दे। अथवा यह भावनाओं तथा कामनाओं की थकावट का परिणाम हो सकती है जो सुख या आनन्द की अतितृप्ति से हो गई हो अथवा इसके प्रतिकूल, जीवन के कष्ट के कारण संसार के प्रति निराशा, घृणा तथा विकर्षण, शिथिलता, भय, अरुचि से हो गई हो। तब यह अपनी प्रकृति में एक मिश्रित गति, राजसिक-तामसिक गति होती है किन्तु निम्न गुण यानी तामसिक प्रवृति की प्रधानता होती है। अथवा सात्विक दृष्टिकोण से यह इस बौद्धिक आधार का सहारा ले सकती है कि जीवन की कामनाओं को कभी सन्तुष्ट नहीं किया जा सकता, कि आत्मा प्राण पर नियन्त्रण करने में असमर्थ है, कि हर चीज यहाँ दुःखमय और क्षणभंगुर है औऱ इसमें कहीं वास्तविक सत्य या विवेक या प्रकाश या सुख नहीं है। यह समता सात्विक-तामसिक सिद्धांत पर आधारित है औऱ वास्तविक समता का विशुद्ध रूप नहीं है, यद्यपि यह उदासीनता या समान रूप से अस्वीकृति के रूप में उसकी ओर ले जा सकता है। तात्विक रूप से, तामसिक समता की गतिशीलता प्रकृति के जुगुप्सा सिद्धान्त का सामान्यीकरण है अथवा आत्म रक्षा के लिए पीछे हटने के समान है जो किसी विशेष कष्टदायक प्रभाव से बचने से लेकर प्रकृति के समस्त जीवन से ही बचने तक के प्रयास में विस्तारित हो गया है। संक्षेप में, मानों जीवन पीड़ा की ओर ले जाता है, आनन्द में नहीं जिसकी

मांग आत्मा करती है।

तामसिक समता में वास्तविक मुक्ति नहीं है, किन्तु इसे एक शक्तिशाली आरम्भ बिन्दु बनाया जा सकता है, यदि इसे प्रकृति से परे निर्विकार आत्मन के एक महत्तर अस्तित्व, सत्यतर शक्ति, उच्चतर आनन्द के बोध के द्वारा सात्विक बनाया जा सके जैसा कि भारतीय संन्यास धर्म में प्रचलित है। ऐसी गतिशीलता का झुकाव संन्यास की ओर, जीवन औऱ कर्म के त्याग की ओर है न कि कामना के आन्तरिक त्याग के साथ प्रकृति के संसार में उस कर्मशीलता के एकत्व की ओर जिसका समर्थन गीता करती है। जो भी हो, गीता इस गतिशीलता को स्वीकृति देती है। यह सांसारिक जीवन की त्रुटियों, जन्म, रोग, मृत्यु, जरा, शोक के बोध को विकर्षणकारी आरम्भिक बिन्दु के रूप में मान्यता देती है जैसा कि बुद्ध का भी ऐतिहासिक आरम्भिक बिन्दु यही था - ***जन्ममृत्यु-जरा-व्याधि-दुःख-दोषानुदर्शनम।*** यह उन लोगों के प्रयास को स्वीकार करती है जिनका आत्मानुशासन मोक्ष की कामना से, जरा और मृत्यु के अभिशाप से प्रेरित होता है — ***जरा-मरण-मोक्षाय माम् आश्रित्य यतन्ति ये***। किन्तु इसका लाभ तभी हो सकता है यदि इसके साथ एक उच्चतर स्थिति का और भगवान के अस्तित्व में आनन्द और शरणागति लेने का सात्विक बोध हो, ***माम् आश्रित्य***। तब आत्मा अपने विकर्षण के द्वारा सत्ता की महत्तर अवस्था में आ जाती है, त्रिगुणों से ऊपर उठ जाती है तथा जन्म-मरण औरा जरा व शोक से मुक्त हो जाती है। वह अपने स्वयंभूत्व की अमरता में आनन्दमग्न रहती है - ***जन्म-मृत्यु-जरा दुःखैर विमुक्तोऽमृतम् अश्नुते।*** पीड़ा और जीवन के संघर्ष को स्वीकार करने की तामसिक अनिच्छा वास्तव में अपने आप में दुर्बलकारी औऱ अपमानजनक चीज है और इसमें सबको एक समान संन्यास धर्म तथा संसार के प्रति घृणा का उपदेश देना खतरनाक है क्योंकि यह अयोग्य आत्माओं पर तामसिक दुर्बलता और पलायन की मुहर लगा देती है, उनकी बुद्धि को भ्रान्त कर देती है — ***बुद्धिभेदं जनयेत,*** अविच्छिन्न अभीप्सा को, जीवन यापन में आत्मविश्वास को, प्रयास करने की शक्ति को कमजोर कर देती है जिनकी मानव आत्मा को अपने हितकारी औऱ अपने परिवेश पर अधिकार प्राप्त करने हेतु आवश्यक राजसिक संघर्ष के लिए, एक उच्चतर लक्ष्य, एक उच्चतर प्रयास तथा एक अधिक शक्तिशाली विजय के लिए आवश्यकता होती है। परन्तु समर्थ औऱ सुयोग्य आत्माओं में यह तामसिक विकर्षण एक उपयोगी आध्यात्मिक प्रयोजन सिद्ध कर सकता है क्योंकि इसके द्वारा वह राजसिक आकर्षणों तथा अपनी निम्न प्राण की उत्कट व्यस्तताओं को, जो उच्चतर सम्भावनाओं के प्रति सात्विक जागृति को रोकती हैं, विजित कर सकता है। तब उस शून्य में जिसका निर्माण उन्होंने ही किया है, शरण की खोज में वे यह दिव्य पुकार सुन सकते हैं, ''हे आत्मा, जो अपने को इस क्षण भंगुर तथा दुःखी संसार में बन्दी बने पाते हो, मुझमें शरण ग्रहण करो, ***अनित्यं असुखं लोकं इमम प्राप्य भजस्व माम्।***

फिर भी, इस गतिशीलता में समता केवल सांसारिक चीजों से समान रूप से विकर्षण में है और इसकी परिणति होती है उदासीनता तथा पृथक्ता में। इस समता में वह शक्ति शामिल नहीं है जो सभी सांसारिक स्पर्शों को -- सुखद या दुःखद -- अनासक्त तथा अविक्षुब्ध होकर समान रूप से स्वीकार करे और जो गीता के योग में एक आवश्यक तत्व है। इसलिए यदि हम तामसिक विकर्षण से भी आरम्भ करें, जो बिलकुल आवश्यक नहीं है, तब भी यह केवल महत्तर प्रयास के लिए एक प्रथम प्रेरणा हो सकती है, एक स्थायी दुःखवाद या निराशावाद के रूप में नहीं। सच्चा योगानुशासन आरम्भ होता है इन चीजों पर प्रभुत्व प्राप्त करने की गतिशीलता के साथ जिनसे हम पहले पलायन करना चाहते थे। यहीं पर एक प्रकार की राजसिक समता की संभावना प्रवेश करती है जो अपने निम्नतम स्तर पर भी आत्मसंयम, आत्म नियन्त्रण, आवेग तथा दुर्बलता पर वरिष्ठता में सबल प्रकृति का अभिमान होती है। परन्तु संयमी का आदर्श इस प्रस्थान-बिन्दु को हस्तगत कर निम्नप्रकृति की समस्त दुर्बलता की शिकार आत्मा के लिए सम्पूर्ण मुक्ति का द्वार खोल देता है। जिस प्रकार तामसिक आभ्यन्तर

विकर्षण प्रकृति के जुगुप्सा सिद्धान्त का सामान्यीकरण या दुःख से आत्मरक्षा है, उसी प्रकार राजसिक ऊर्ध्वमुखी गतिशीलता प्रकृति के दूसरे सिद्धान्त, संघर्ष तथा प्रयास की स्वीकृति तथा प्रभुता व विजय के लिए स्वाभाविक आवेग के सिद्धान्त का सामान्यीकरण है। परन्तु यह समता संघर्ष को युद्धक्षेत्र में हस्तांतरित कर देती है जहाँ सम्पूर्ण विजय की सम्भावना है। बिखरे बाह्य उद्देश्यों तथा क्षणभंगुर सफलताओं के लिए संघर्ष के बदले यह आध्यात्मिक युद्ध के द्वारा प्रकृति तथा विश्व पर विजय से कुछ कम लक्ष्य के लिए प्रस्ताव नहीं करती। तामसिक विकर्षण विश्व के दुःख और सुख दोनों से भागने से आता है। राजसिक गतिशीलता उन्हें सहन करने, उन पर प्रभुत्व प्राप्त करने तथा ऊपर उठ कर उनसे वरिष्ठता प्राप्त करने की प्रवृति से आती है। संयमी दार्शनिक का आत्मानुशासन कामना तथा आवेग को मल्लयोद्धा के समान अपने आलिंगन में लेने कि लिए बुलाता है और अपनी भुजाओं के बीच चकनाचूर कर देता है जैसा कि महाभारत में वृद्ध धृतराष्ट्र ने भीम की लौह मूर्ति के साथ किया था। यह चीजों के दुःखद और सुखद आघात को तथा प्रकृति के भौतिक व मानसिक प्रवृत्तियों के कारणों को झेलता है तथा उनके प्रभावों को चूर - चूर कर देता है। यह पूर्ण तब होता है जब आत्मा बिना दुःखी, आकर्षित, उत्तेजित या क्षुब्ध हुए सभी स्पर्शों को झेल सके। यह चाहता है कि मानव अपनी प्रकृति का विजेता तथा अधिपति बने।...

किन्तु गीता इस आत्म संयमी अनुशासन, इस वीरोचित दर्शन को उसी शर्त पर स्वीकार करती है जिस शर्त पर तामसिक विकर्षण को — इसे, इससे परे, ज्ञान की सात्विक दृष्टि रखनी होगी, अपने मूल में आत्मसिद्धि का लक्ष्य रखना होगा और इसके कदमों को दिव्य प्रकृति की ओर आरोहण करना होगा। एक आत्म संयम का अनुशासन जो मानव प्रकृति के सामान्य भावों को मात्र कुचल देता है — यद्यपि यह जीवन की तामसिक थकान, निष्फल निराशावाद तथा बांझ जड़ता की अपेक्षा कम खतरनाक है, क्योंकि यह कम से कम आत्मा की शक्ति और आत्म प्रभुता को तो बढ़ायेगा — फिर भी यह अमिश्रित रूप में भी पर्याप्त नहीं होगा, क्योंकि यह सच्ची आध्यात्मिक मुक्ति प्रदान किये बिना भावशून्यता तथा अमानुषिक एकान्त की ओर ले जा सकता है। फिर भी आत्मसंयमी की समता का गीता के योगानुशासन में औचित्य है क्योंकि इसे परिवर्तनशील मानव सत्ता में मुक्त निर्विकार आत्मन की सिद्धि के साथ संयुक्त किया जा सकता है तथा इसमें यह सहायक भी हो सकती है।...

विशुद्ध दार्शनिक, चिन्तक, जन्मजात ज्ञानी न केवल अपने अन्दर के सात्विक सिद्धान्त पर अपने चरम औचित्य के रूप में विश्वास करता है, बल्कि आरम्भ से ही अपनी आत्म-प्रभुता के लिए अपने यन्त्र के समान इसका प्रयोग करता है। वह सात्विक समता से आरम्भ करता है। वह भी भौतिक तथा बाह्य संसार की क्षणभंगुरता और कामनाओं की तुष्टि में अथवा सच्चा आनन्द देने में इसकी विफलता का अवलोकन करता है परन्तु इसके कारण उसमें कोई दुःख, भय अथवा निराशा नहीं होती। वह इन सब का एक प्रशान्त विवेक के साथ पर्यवेक्षण करता है और बिना घृणा या उलझन के अपना चुनाव करता है। ''बाह्य वस्तुओं के स्पर्श-जनित सुख ही दुःख के कारण होते हैं। इनका आदि और अन्त है। इसलिए ज्ञानी, मनीषी, जाग्रत विवेक का व्यक्ति, *बुद्धाः* इनमें आनन्द अनुभव नहीं करता।'' ''उसके भीतर की आत्मा बाह्य वस्तुओं के स्पर्श के प्रति अनासक्त रहती है। उसे अपने अन्दर से आनन्द प्राप्त होता है।'' वह देखता है कि, जैसा कि गीता कहती है, वह स्वयं ही अपना शत्रु है और अपना मित्र है और इसलिए वह सावधान रहता है ताकि वह अपनी सत्ता को कामना तथा आवेग के हाथों में सौंप कर अपने आप को पदच्युत न कर ले - *नात्मानम् अवसादयेत* बल्कि उस बन्दीगृह से अपनी आन्तरिक शक्ति द्वारा अपने आप को मुक्त कर सके - *उद्धारेद् आत्मनात्मानम्* - क्योंकि जिसने भी अपनी

निम्न सत्ता को जीत लिया है, अपनी उच्चतर सत्ता उसकी सर्वोत्तम मित्र बन जाती है। वह ज्ञान से सन्तुष्ट हो जाता है, अपनी इन्द्रियों का स्वामी बन जाता है, सात्विक समता के द्वारा योगी हो जाता है क्योंकि समता ही योग है - *समत्वं योग उच्यते,* - उसके लिए मिट्टी, पत्थर औऱ सोना एक है, सर्दी औऱ गर्मी में, दुःख औऱ सुख में, मान और अपमान में वह शान्त और सन्तुलित बना रहता है। वह आत्मा में मित्र और शत्रु तथा निष्पक्ष और उदासीन सब के प्रति समभाव रहता है, क्योंकि वह देखता है कि ये सब क्षणिक सम्बन्ध हैं जो जीवन की परिवर्तनशील स्थितियों से उत्पन्न होते हैं। यहाँ तक कि वह ज्ञान, शुद्धता, सद्‌गुण तथा श्रेष्ठता का दावा भी नहीं करता जिसे सामान्य लोग अपना जीवनाधार बनाते हैं। वह पापी और सन्त, गुणी, पंडित, ब्राह्मण तथा शूद्र सभी मनुष्यों के प्रति समता का भाव रखता है। सात्विक समता के ये हैं गीता में चित्रण।

तब इसमें और गीता की बृहत्तर समता में क्या अन्तर है ? यह अन्तर है बौद्धिक तथा दार्शनिक बुद्धि और आध्यात्मिक ज्ञान, एकता के वेदान्ती ज्ञान के बीच का जिसके ऊपर गीता की अपनी शिक्षा आधारित है। दार्शनिक व्यक्ति अपनी समता बुद्धि के बल पर, विवेकशील मन के द्वारा कायम रखता है। परन्तु वह अपने आप में एक सन्दिग्ध आधार है। क्योंकि यद्यपि एक सतत सतर्कता अथवा मन के अभ्यास द्वारा वह आत्म संयम रखता है, परन्तु वास्तव में अपनी निम्न प्रकृति से मुक्त नहीं है। यह अनेक विधियों में अपने अधिकार पर डटी रहती है और किसी समय अपनी उपेक्षा तथा दलन का उग्र प्रतिशोध ले सकती है। क्योंकि निम्न प्रकृति की क्रीड़ा हमेशा त्रिविध क्रीड़ा होती है औऱ राजसिक तथा तामसिक गुण सात्विक मनुष्य में हमेशा घात लगाये छिपे रहते हैं। ''बुद्धिमान मनुष्य का मन भी, जो पूर्णता प्राप्त करने में श्रमरत रहता है, इन्द्रियों के प्रचण्ड आवेग में प्रवाहित हो जाता है।'' सात्विक गुण से कुछ उच्चतर शक्ति की शरण में ही, विवेकशील मन से ऊपर, आत्मन में पूर्ण सुरक्षा मिल सकती है ; दार्शनिक की बौद्धिक सत्ता में नहीं बल्कि दिव्य मनीषी की आध्यात्मिक आत्मा में जो त्रिगुणातीत है। उच्चतर आध्यात्मिक प्रकृति में दिव्य जन्म द्वारा ही पूर्णता की सिद्धि प्राप्त करनी होगी।

और दार्शनिक की समता तितिक्षु की समता के समान है, पलायनवादी संन्यासी की समता की तरह, आन्तरिक रूप से एकाकी मुक्ति, मनुष्यों से दूर, अलग-थलग। परन्तु दिव्य जन्म में पैदा हुआ व्यक्ति न केवल अपने अन्दर वरन सभी प्राणियों औऱ सत्ताओं में भगवान को पा लेता है। वह सब के साथ अपनी एकता प्राप्त कर लेता है इसलिए उसकी समता में सहानुभूति तथा एकता भरी होती है। वह सब को अपना ही स्वरूप समझता है और केवल अपनी एकाकी मुक्ति के लिए ही दृढ़-संकल्प नहीं रहता बल्कि उनके दुःख-सुख का भार अपने ऊपर ले लेता है जिसके द्वारा वह स्वयं प्रभावित नहीं होता। गीता बार-बार कहती है कि पूर्ण मनीषी सभी प्राणियों की भलाई में एक विशाल समता के साथ सदा लगा रहता है और उसे अपना व्यवसाय तथा आनन्द मानता है - *सर्वभूतहिते रताः*। एक पूर्ण योगी आत्मन पर एकाकी चिन्तन करता हुआ आध्यात्मिक एकान्तवास में लीन नहीं रहता बल्कि विश्व कल्याण के लिए, विश्व में व्याप्त भगवान के लिए एक बहुपक्षीय वैश्व कर्मी होता है। क्योंकि वह भगवान का भक्त है, भगवान का प्रेमी है, साथ ही एक मनीषी और योगी है, एक प्रेमी जो भगवान से प्रेम करता है जहाँ भी उसे भगवान मिल जाये और सचमुच वह उसे सर्वत्र पा लेता है। और जिसे वह प्यार करता है उसकी सेवा करने से कतराता नहीं और न उसका कर्म तादात्म्य के आनन्द से उसे वंचित करता है, क्योंकि उसके समस्त कर्म अपने अन्दर स्थित भगवान से उद्‌भूत होकर सब के अन्दर स्थित भगवान की ओर ही जाते हैं। गीता की समता एक विशाल समन्वित समता है, जिसमें सब कुछ भागवत सत्ता तथा भागवत प्रकृति की समग्रता में ऊँचा उठा दिया गया है।

Essays on the Gita : pp.189-90 & 197-199 — श्रीअरविन्द

समता का प्रभाव

जो विशिष्टताएं बतायी जा चुकी हैं उनसे पता चल गया होगा कि समता का स्थान कितना ऊँचा है। यह मात्र निष्क्रिय शान्ति तथा उदासीनता नहीं है, न अनुभव से पीछे हटना या प्रत्याहार करना है, बल्कि मन तथा प्राण की वर्तमान प्रतिक्रियाओं से अधिक श्रेष्ठता की स्थिति है। यह जीवन को उत्तर देने का बल्कि इसे स्वीकार करने तथा आन्तरिक सत्ता और आत्मन की क्रिया का पूर्ण स्वरूप बनने के लिए इसे बाध्य करने की आध्यात्मिक विधि है। यह सत्ता पर आत्मन की प्रभुता का प्रथम रहस्य है। जब हम यह पूर्णता के साथ प्राप्त कर लेते हैं तब दिव्य आध्यात्मिक प्रकृति की आधार भूमि पर प्रवेश के लिए स्वीकार कर लिये जाते हैं। शरीर में मनोमय पुरुष प्राण को बाध्य करने और जीतने का प्रयास करता है परन्तु हर मोड़ पर यह इसके द्वारा विवश कर दिया जाता है क्योंकि यह प्राणमय पुरुष की कामनात्मक प्रतिक्रियाओं के सामने झुक जाता है। समता बनाये रखना, कामना के किसी दबाव से प्रभावित न होना वास्तविक नियन्त्रण की पहली शर्त है, आत्म साम्राज्य इसका आधार है। परन्तु मात्र मानसिक समता, कितनी भी महान क्यों न हो, निष्क्रियता की प्रवृति से बाधित हो जाती है। इसे अपने आप को कामना से संकल्प तथा क्रिया में आत्म परिसीमन द्वारा संरक्षित रखना है। केवल आत्मन ही संकल्प की उदात्त अक्षुब्ध द्रुतगति, साथ ही, असीम धैर्य में समर्थ है। धीमी तथा सुविचारित अथवा द्रुत और उग्र क्रिया में यह समान रूप से न्यायसंगत है और पंक्तिबद्ध तथा सीमित अथवा एक बृहत् तथा विशाल क्रिया में भी उतना ही सुरक्षित है। वह विश्व के संकीर्णतम घेरे में सबसे छोटा कार्य स्वीकार कर सकता है औऱ दुर्व्यवस्था के भंवर पर भी बुद्धि तथा सृजनात्मक शक्ति के साथ कार्य कर सकता है। और ये चीजें यह इसलिए कर सकता है, क्योंकि यह अपने अनासक्त फिर भी आत्मीय स्वीकृति के साथ इन दोनों स्थितियों में एक अनन्त स्थिरता, ज्ञान, संकल्प तथा शक्ति वहन करता है। इसमें इतनी अनासक्ति इसलिए है कि यह सभी घटनाओं, रूपों, धारणाओं तथा गतिविधियों से जिन्हें यह अपने कार्यक्षेत्र में अंगीकार करता है, ऊपर है। और इसमें उतनी आत्मीय स्वीकृति इसलिए है कि यह सभी वस्तुओं के साथ एकात्म है। यदि हममें यह स्वच्छन्द एकता, *एकत्वं अनुपश्यतः,* नहीं है तब हममें आत्मन की पूर्ण समता नहीं आ सकती।

साधक का पहला कर्त्तव्य है यह देखना कि क्या उसमें पूर्ण समता है, इस दिशा में वह कहाँ तक गया है अथवा अन्यथा त्रुटि कहाँ है और क्या स्थिरतापूर्वक अपनी प्रकृति पर अपने संकल्प का प्रयोग करे या दोष और इसके कारणों से मुक्त होने के लिए आत्मन या पुरुष के संकल्प को आमंत्रित करे। साधक में इन चार चीजों का होना आवश्यक है : पहला, शब्द के सर्वाधिक ठोस व्यावहारिक अर्थ में समता, — मानसिक, प्राणिक, भौतिक प्राथमिकताओं से मुक्ति, यहाँ तक कि अपने अन्दर तथा चारों ओर भगवान की समस्त कार्यप्रणालियों की स्वीकृति। दूसरा, एक सुदृढ़ शान्ति तथा समस्त विक्षुब्धता व कष्ट की अनुपस्थिति। तीसरा, एक सकारात्मक आन्तरिक आध्यात्मिक प्रसन्नता तथा प्राकृतिक सत्ता का आध्यात्मिक चैन जिसे कुछ भी कम या नष्ट न कर सके, *सुखम्*। चौथा, जीवन तथा संसार को समाविष्ट करनेवाला आत्मा का एक निर्मल हर्ष तथा आह्लाद। समता प्राप्त करने का अर्थ है अनन्त तथा विश्वव्यापक होना, अपने आप को सीमित नहीं करना, मन तथा प्राण और इसकी पक्षपातपूर्ण प्राथमिकताओं तथा कामनाओं के इस या उस रूप के साथ अपने को बांधना नहीं। परन्तु क्योंकि मनुष्य अपनी वर्तमान सामान्य़ प्रकृति में अपनी आत्मा की स्वाधीनता में नहीं बल्कि अपनी मानसिक तथा

प्राणिक रचनाओं में निवास करता है, उनके प्रति आसक्ति तथा उनसे सम्बद्ध कामनाएं और प्राथमिकताएं भी उसकी सामान्य स्थिति होती है। उन्हें स्वीकार करना प्रथमतः अपरिहार्य है। उनसे ऊपर उठना अत्यन्त कठिन है और शायद तब तक बिलकुल असम्भव है जब तक हम अपनी क्रिया के लिए मन को मुख्य यन्त्र के रूप में प्रयोग करने के लिए बाध्य हैं। इसलिए पहली आवश्यकता है कम से कम उनसे दंश निकाल देना, उन्हें उनके आग्रह से, उनके वर्तमान अहं भाव से, हमारी प्रकृति पर उनके उग्रतर दावे से, यदि वे बने रहें तब भी, वंचित कर देना।

हमने यह कर लिया है इस बात की कसौटी है मन में तथा आत्मा में अक्षुब्ध स्थिरता की उपस्थिति। साधक को पीछे हट कर साक्षी तथा उत्सुक चैत्य पुरुष के रूप में सतर्क रहना होगा अथवा बेहतर होगा, जितनी जल्दी हो सके, मन के ऊपर जाकर मन के अन्दर के कष्ट, चिन्ता, शोक, विद्रोह, क्षुब्धता के छोटे से छोटे अंश को भी मार भगाना। यदि ये चीजें प्रवेश करें, उसे तुरन्त उनके उद्‌गम का पता करना होगा, उस त्रुटि का जिसकी ओर वे संकेत करते हैं, अहंकारात्मक दावे, प्राणिक कामना, भावना या धारणा का जहाँ से वे आरम्भ करते हैं। और अपने संकल्प, आध्यात्मिक बुद्धि, अपनी आत्मिक एकता द्वारा अपनी सत्ता के स्वामी के साथ मिल कर उसे इनकार करना होगा। उसे किसी भी प्रकार के बहाने से उन्हें क्षमा नहीं करना होगा चाहे वे बहाने कितने भी स्वाभाविक, ऊपर से कितने भी उचित और सत्याभासी या आन्तरिक और बाह्य रूप से कितने भी औचित्यपूर्ण क्यों न लगें। यदि प्राण कष्ट में है और कोलाहल मचा रहा है तब उसे दुःखी प्राण से अपने आप को पृथक् कर लेना होगा, अपनी उच्चतर प्रकृति को बुद्धि में स्थित कर लेना होगा और बुद्धि की विचारधारा से अपने अन्दर की कामनात्मा (desire-soul)या प्राण के दावे को इनकार करना होगा। यही चीज भावनात्मक हृदय के साथ भी करना होगा यदि वह भी बाधा डाले और और शोर मचाये। दूसरी ओर यदि संकल्प और बुद्धि स्वयं दोषी हों तब समस्या का समाधान अधिक कठिन हो जाता है, क्योंकि उसका मुख्य सहायक और यन्त्र ही भागवत संकल्प के विरुद्ध विद्रोह के अपराधी का साथी-संगी बन जाता है तथा निम्न प्रकृति के पुराने पाप इसका लाभ उठाकर अपने सिर उठाने लगते हैं। इसलिए एक मुख्य धारणा पर सतत आग्रह होना चाहिये — अपनी सत्ता के स्वामी के प्रति, हमारे तथा विश्व के अन्दर भगवान, परम आत्मन्, वैश्व पुरुष के प्रति आत्म-समर्पण। इस सर्वश्रेष्ठ धारणा में सतत निवास करनेवाली बुद्धि को अपने ही निम्न आग्रहों तथा प्राथमिकताओं को हतोत्साहित करना होगा तथा सम्पूर्ण सत्ता को यह सिखाना होगा कि अहंकार का, चाहे वह अपना दावा तर्क से, व्यक्तिगत संकल्प से, प्राण में हृदय या कामनात्मा द्वारा पेश करे, कोई दावा न्यायसंगत नहीं है तथा समस्त दुःख, विद्रोह, अधीरता, कष्ट सत्ता के स्वामी के प्रति हिंसा है।...

समता की सम्पूरित क्रिया दिव्य *आनन्दमय* शक्ति के आधार पर चीजों के सभी मूल्यों को रूपान्तरित कर देती है। बाह्य क्रिया जैसी थी वैसी रह सकती है या बदल सकती है। जैसा आत्मन निर्देश देता है और विश्व के लिए जो कार्य किया जाना है उसकी जरूरत के अनुसार ही होगा — किन्तु समस्त आन्तरिक क्रिया दूसरे प्रकार की होगी। शक्ति ज्ञान, क्रिया, आनन्द, सृजन, सूत्रीकरण की अपनी भिन्न-भिन्न क्षमताओं में सत्ता के विभिन्न उद्देश्यों के लिए अपने को निर्देशित करेगी, किन्तु किसी और भावना में। वे उद्देश्य होंगे, परिणाम होंगे, भगवान द्वारा उसके ऊपर के प्रकाश से निर्धारित कार्यप्रणाली की रूपरेखाएं होंगी, अहंकार के दावे की कोई ऐसी चीज नहीं जो पृथक् उसके लिए हो। मन, हृदय, प्राणमय पुरुष, शरीर स्वयं सत्ता के स्वामी की व्यवस्था के अनुसार आनेवाली चीज से सन्तुष्ट होगा और उसमें उसे सूक्ष्मतम किन्तु पूर्णतम अध्यात्मीकृत सन्तोष तथा आनन्द मिलेगा। परन्तु ऊपर की भागवत प्रज्ञा तथा संकल्प इसके आगे के लक्ष्यों की ओर कार्य

करेंगे। यहाँ सफलता और विफलता दोनों अपने वर्तमान अर्थ को खो देते हैं। विफलता नहीं हो सकती, क्योंकि जो कुछ होता है वही जगतों के स्वामी का अभिप्राय होता है, अन्तिम नहीं, बल्कि उसके पथ पर एक पग आगे। और यदि यह विरोध प्रतीत होता है, एक पराजय, इनकार, यहाँ तक कि ऐसा लगे कि यह यांत्रिक सत्ता के समक्ष निर्धारित लक्ष्य का बिलकुल उलटा है, तब भी वास्तव में यह केवल प्रतीति है। बाद में यह उसकी क्रिया के विधान में अपने उचित स्थान में प्रकट होगा या दिखाई पड़ेगा — एक पूर्णतर अतिमानसिक दृष्टि इसकी आवश्यकता तथा अन्तिम परिणाम के साथ इसके सच्चे सम्बन्ध को तुरन्त या पहले ही देख सकती है, जो अभी इतना प्रतिकूल दिखाई पड़ता है। अथवा, यदि — जब प्रकाश मन्द होता है — लक्ष्य अथवा काररवाई तथा परिणाम के चरणों के विषय में गलत अर्थ लगाया गया है, विफलता संशोधन के रूप में आती है तथा बिना हतोत्साहित हुए या संकल्प की विचलता के बिना शान्तिपूर्वक इसे स्वीकार कर लिया जाता है। अन्त में यह पता चलता है कि विफलता नाम की कोई चीज नहीं थी तथा आत्मा भागवत संकल्प के कदम तथा सूत्रीकरण के रूप में सभी घटनाओं में एक समान निष्क्रिय तथा सक्रिय आनन्द लेती है। यही क्रमविकास सौभाग्य तथा दुर्भाग्य, सुखद तथा दुःखद, प्रिय-अप्रिय के सम्बन्ध में हर रूप में घटित होता है, *मंगल-अमंगल, प्रिय-अप्रिय* ।

और जैसा घटनाओं के साथ होता है, वैसे ही व्यक्तियों के साथ भी, समता दृष्टिकोण तथा मनोवृति को पूरी तरह बदल देती है। समतापूर्ण मन तथा आत्मा का पहला परिणाम यह हेता है कि सभी व्यक्तियों, विचारों, दृष्टिकोणों, क्रियाओं के प्रति एक वर्धनशील उदारता तथा आन्तरिक सहिष्णुता आ जाती है, क्योंकि यह देखा जाता है कि भगवान सभी प्राणियों में है तथा प्रत्येक प्राणी अपनी प्रकृति, अपने स्वभाव तथा इसकी वर्तमान सूत्रीकरण के अनुसार कार्य करता है।

जब सकारात्मक समान आनन्द होता है, तब यह सहानुभूतिपूर्ण बोध में गहरा हो जाता है और अन्त में एक समतापूर्ण विश्वव्यापक प्रेम में बदल जाता है।

Synthesis of Yoga : pp. 721-27 — श्रीअरविन्द

तीन शर्तें

भागवत शक्ति को ग्रहण करने की क्षमता प्राप्त करने तथा तुम्हारे माध्यम से बाह्य जीवन की चीजों में इसे क्रियाशील होने देने के लिए तीन आवश्यक शर्तें हैं :

(१) अचंचलता, समता — जो कुछ घटित होता है उससे विक्षुब्ध नहीं होना, मन को निष्क्रिय तथा दृढ़ बनाये रखना, शक्तियों की क्रीड़ा को देखना, किन्तु स्वयं प्रशान्त बने रहना।

(२) परम निष्ठा — यह विश्वास बनाये रखना कि वही घटित होगा जिसमें सब का कल्याण है। किन्तु यह भी कि यदि व्यक्ति अपने को सच्चा यन्त्र बना सके तब परिणाम को भागवत प्रकाश द्वारा निर्देशित व्यक्ति का संकल्प ''कर्तव्यं कर्म'' के रूप में देखेगा।

(३) भागवत शक्ति को ग्रहण करने की क्षमता तथा भागवत उपस्थिति तथा इसमें श्रीमाँ की उपस्थिति को महसूस करना तथा इसे अपनी दृष्टि, संकल्प व क्रिया को निर्देशित करने देना। यदि इस शक्ति तथा

उपस्थिति को अनुभव किया जा सके और इस सुनम्यता को क्रियाशील चेतना की आदत बनाया जा सके तब अन्तिम परिणाम सुनिश्चित है। परन्तु सुनम्यता केवल भागवत शक्ति के प्रति होनी चाहिये जिसमें कोई विदेशी तत्व न हो।

***

अवसाद तथा प्राणिक संघर्ष तुम्हारे पूर्व प्रयास में अति उत्सुकता तथा परिणाम के लिए तनाव के कारण हुआ होगा — जिससे जब चेतना में गिरावट आई तब दुःखी, निराश तथा भ्रान्त प्राण ने सतह पर आकर सन्देह, निराशा तथा निष्क्रियता को प्रकृति के विरोधी पक्ष की ओर से प्रवेश करने की पूरी छूट दे दी। तुम्हें प्राण में तथा भौतिक में और मानसिक चेतना में भी स्थिरता तथा समता के एक दृढ़ आधार की ओर गति करना है। शक्ति और आनन्द को पूर्ण रूप से प्रवाहित होने दो किन्तु इसे समाविष्ट करने में सक्षम दृढ़ आधार में पूर्ण समता ही यह क्षमता तथा दृढ़ता प्रदान करती है।

Bases of Yoga : pp. 15, 16, 20 — श्रीअरविन्द

कर्मयोग का सिद्धान्त

ऐसा नहीं है कि तुम्हें वही करना है जो तुम्हें पसन्द नहीं है, किन्तु तुम्हें नापसन्द करना बन्द करना होगा। केवल वही करना जो तुम्हें पसन्द है प्राण को सन्तुष्ट करना है और प्रकृति पर इसके प्रभाव को बनाये रखना है, क्योंकि अपनी पसन्द और नापसन्द से शासित होना अरूपान्तरित प्रकृति का सिद्धान्त है। समता के साथ कुछ भी करना और हर्ष के साथ करना कर्मयोग का सिद्धान्त है, क्योंकि यह भगवती माता के लिए किया जाता है। यह योग में वास्तविक चैत्य और प्राणिक अवस्था है।

SABCL 23, P 680 — श्रीअरविन्द

मन की समचित्तता

जब मानव प्रकृति मनुष्यों के साथ सम्बन्ध स्थापित करती है तब ये सामान्य दुर्बलताएं होती ही हैं। प्राण में हमेशा ऐसे झगड़े, कठिनाइयाँ तथा अशान्ति होती हैं। यदि तुम इनसे छुटकारा पाना चाहते हो तब वही करो जो हमलोगों ने पहले ही तुम्हें बताया है -- सब को श्रीमाँ के बच्चों के समान सदय दृष्टि से देखो, परन्तु किसी के साथ सम्बन्ध-विशेष के भाव से नहीं और न किसी से किसी आशा के साथ। योग सभी वस्तुओं तथा व्यक्तियों के प्रति समचित्तता की मांग करता है।

17 Nov. 1933, CWSA : Vol.32, p. Nil — श्रीअरविन्द

सात्विक मनुष्य तथा आध्यात्मिक मनुष्य

सत्व से जानेवाला मार्ग योग की सामान्य धारणा है, यह पतंजलि ऋषि के यम-नियम द्वारा तैयारी तथा शुद्धीकरण की प्रक्रिया है। अन्य योगों में इसे अन्य साधनों से किया जाता है जैसे - भक्ति मार्ग में सन्त प्रकृति द्वारा तथा बौद्ध धर्म में अष्ट मार्ग द्वारा इत्यादि। हमारे योग में सत्व द्वारा विकास के स्थान पर समता के अभ्यास तथा चैत्य रूपान्तरण द्वारा विकास किया जाता है।

CWSA : Vol. 28, p.424 — श्रीअरविन्द

समता औऱ शान्ति — पहली शर्त्त

सभी परिस्थितियों में, सत्ता के सभी अंगों में समता और शान्ति यौगिक स्थिति के प्रथम आधार हैं। बाद में प्रकृति के झुकाव के अनुसार प्रकाश (ज्ञान के साथ), या शक्ति (अनेक प्रकार की क्षमता तथा गत्यात्मकता) या आनन्द (प्रेम तथा प्रसन्नता के साथ) आ सकता है। परन्तु शान्ति पहली शर्त है जिसके बिना अन्य कुछ भी स्थायी नहीं हो सकता।

CWSA : Vol 29, p.123 — श्रीअरविन्द

यौगिक मनोवृति

यदि तुम योग करना चाहते हो तो तुम्हें सभी बातों में, छोटी या बड़ी, यौगिक मनोवृति अपनानी होगी। हमलोगों के मार्ग में वह मनोवृति कामना को बलपूर्वक दबाने की नहीं, बल्कि अनासक्ति तथा समता की है। कामना को बलपूर्वक दबाना (उपवास उसी कोटि में है) कामना की स्वच्छन्द रूप से सन्तुष्टि के बराबर है। इन दोनों स्थितियों में कामना उपस्थित रहती है। एक स्थिति में अतिसेवन द्वारा इसे सन्तुष्ट किया जाता है, दूसरी स्थिति में यह सुषुप्त रहती है और दबाने के कारण क्रुध रहती है। जब व्यक्ति केवल पीछे हटता है, निम्न प्रकृति से अपने को अलग करता है, इसकी कामनाओं और कोलाहल को अपना समझने से इनकार करता है तथा अपनी चेतना में उनके प्रति पूर्ण समता तथा समचित्तता विकसित करता है तभी निम्न प्राण स्वयं धीरे-धीरे शुद्ध होने लगता है और खुद ही स्थिर तथा सम बन जाता है। कामना की प्रत्येक तरंग को, जब यह आती है, उतनी ही अचंचलता तथा अटल अनासक्ति के साथ साक्षी भाव से देखना होगा जैसे तुम अपने से बाहर की किसी चीज को जाते हुए देखते हो और चेतना से अस्वीकृत होकर उसे गुजर जाने देना होगा। तथा सच्ची गति औऱ सच्ची चेतना को दृढ़तापूर्वक उसके स्थान पर स्थापित करना होगा।

Bases of Yoga (2014 Ed.), p.67 — श्रीअरविन्द

वैश्व शक्तियों के पीछे रहस्यमय संकल्प की क्रिया

वैश्व शक्तियों की क्रीड़ा में, विश्व में संकल्प — व्यक्ति ऐसा कह सकता है — हमेशा प्रत्यक्ष रूप से कार्य या साधना के लिए निर्विघ्न सम्पादन के पक्ष में परिस्थितियों का निर्माण नहीं करता। प्रायः यह ऐसी चीज ले आता है जो उथल-पुथल, अचानक मोड़-सा लगता है, पथ को तोड़ या पथ से विचलित कर देता है, परिस्थितियों का विरोध करता या उन्हें उलट-पुलट देता है औऱ जो अस्थायी रूप से स्थापित हो चुका था उससे दूर हटा कर जटिल समस्या पैदा कर देता है। ऐसी अवस्था में एक चीज जो करने की है वह है समचित्तता बनाये रखना और जीवन तथा साधना के क्रम में जो घटित होता है उसे प्रगति का अवसर और साधन बना लेना। वैश्व शक्तियों की क्रीड़ा तथा संकल्प के पीछे — जो अनुकूल प्रतिकूल दोनों शक्तियों का मिश्रण होता है — एक उच्चतर रहस्यमय विश्वातीत संकल्प होता है औऱ इसी में व्यक्ति को श्रद्धा और आशा रखनी होगी। परन्तु तुम इसकी कार्यप्रणाली को हमेशा समझ नहीं पा सकते। मन यह या वह करना चाहता है, जो पथ एक बार चुन लिया है उसे बरकरार रखना चाहता है, किन्तु मन जो कुछ चाहता है वही हमेशा उच्चतर प्रयोजन के लिए वांछनीय नहीं होता। व्यक्ति को निश्चय ही साधना में एक सुनिश्चित केन्द्रीय लक्ष्य का अनुगमन अविचलित होकर करना पड़ता है, परन्तु बाहरी परिस्थितियों, अवस्थाओं आदि का मौलिक वस्तुओं के समान निर्माण नहीं किया जा सकता।

Letters of Sri Aurobindo p.461, 9. 12. 1932 — श्रीअरविन्द

साधकों में अहंकार और मिथ्यात्व

यह पूर्णतः सत्य है कि साधकों में अधिकार का अहंकारात्मक भाव तथा मिथ्यात्व की आदत बहुत सामान्य रूप से मौजूद है। फिर भी, तुम्हें अपने इर्द-गिर्द के लोगों में इन चीजों पर, बिना विक्षुब्ध या विचलित हुए, जब वे निकट से स्पर्श करें तब भी, दृष्टिपात करने के लिए अपने आप को प्रशिक्षित करना चाहिये। तुम्हें एक ऐसी पूर्ण समचित्तता उपलब्ध कर लेनी होगी (निश्चय ही इसे तुरन्त अर्जित नहीं किया जा सकता बल्कि इसमें समय लगता है) जो चीजों और लोगों को यथावत देखती हो परन्तु उनके द्वारा विचलित, क्रोधित या दुःखी न हो। हमलोग स्वयं इस बात से अभिज्ञ हैं कि यह सब अहंकार तथा मिथ्यात्व हमलोगों के कार्य में कितने बाधक हैं, फिर भी हमलोग अधीर नहीं हैं क्योंकि हमलोग यह भी जानते हैं कि ये चीजें मानव प्रकृति के अंग हैं और उनकी पकड़ इतनी मजबूत है कि साधक के लिए उनसे छुटकारा पाना उनके चाहते हुए भी कितना कठिन है। अनेक साधकों में उनकी आदतें उनके संकल्प से अधिक मजबूत हैं। जब उनसे छुटकारा पाने का संकल्प सुदृढ़ न हो या जब साधक पूर्ण सचेतन न हो, तब यह और भी कठिन हो जाता है। केवल सम्पूर्ण चेतना की दृढ़ता तथा सतत वर्धनशील जागृति ही उपयोगी हो सकती है औऱ यही चीज सब में लाने की हम धैर्यपूर्वक कोशिश कर रहे हैं क्योंकि या तो यह धीमी गति से आती है अथवा साधकों में अपनी प्रकृति के दोषों को ठीक करने का पर्याप्त या पूर्ण प्रयास नहीं होता।

28 Nov 1935, CWS A : Vol 35, p. Nil — श्रीअरविन्द

श्रीमाँ की प्रार्थना और समत्व

अपने विषय में न सोचना एक राजोचित गरिमा है। आवश्यकताएं महसूस करना अपनी दुर्बलता प्रकट करना है। किसी चीज के लिए अधिकार जताना उसकी कमी को प्रमाणित करना है। कामना करना निस्सहाय बनना है। यह अपनी सीमितताओं तथा उन पर विजय पाने की असमर्थता को स्वीकार करना है।

यदि केवल युक्तियुक्त स्वाभिमान की दृष्टि से भी देखें तब भी मनुष्य को इतना विशाल-हृदय या उदार-चेता होना चाहिये कि कामना का त्याग कर दे। कितना अपमानजनक लगता है अपने लिए जीवन से या परम चेतना से, जो इसे अनुप्राणित करती है, कुछ मांगना ! हमारे लिए कितना अपमानजनक और उसके प्रति कितना अज्ञानमय अपराध है ! क्योंकि सब कुछ हमारी पहुँच के अन्दर है। हमारी सत्ता की केवल अहंकारात्मक सीमाएं हमें समस्त भूमण्डल का उतना पूर्ण रूप से तथा प्रत्यक्ष रूप से आनन्द लेने से रोकती हैं जितना हम अपने शरीर तथा इसके निकटवर्ती परिवेश का अधिकारपूर्वक आनन्द लेते हैं।

कर्म के साधनों के प्रति भी ऐसी ही मनोवृति होनी चाहिये।

हे तू ! जो मेरे हृदय में निवास करता तथा अपने परम संकल्प द्वारा सब को निर्देशित करता है, तू ने एक वर्ष पूर्व मुझे कहा था कि मैं अपने सभी सेतुओं को जला दूँ तथा सिर के बल अज्ञान में छलांग लगा लूं जैसाकि सीजर ने रुबीकन नदी पार करने का अटल कदम उठाया था। इसका अर्थ था उसके लिए 'कैपिटोल' या 'टारपेइन रॉक'।[१]

तू ने तब मेरी दृष्टि से मेरे कर्म का फल छिपाया। अब भी तूने इसे गुप्त रखा है। फिर भी तू जानता हे कि महानता और दीनता दोनों के समक्ष मेरी समचित्तता एक समान है।

तू ने संकल्प कर लिया है कि मेरे लिए भविष्य अनिश्चित रहे और कि मैं विश्वास के साथ आगे बढ़ती रहूँ बिना यह जाने कि यह पथ मुझे कहाँ ले जायेगा।

तू ने संकल्प किया है कि मैं अपनी नियति का दायित्व पूर्ण रूप से तेरे हाथों में सौंप दूँ तथा पूर्ण रूप से सभी व्यक्तिगत व्यस्तताओं को त्याग दूँ।

इसका निस्सन्देह अर्थ यह है कि मेरा पथ मेरे अपने विचार के लिए भी नया और अप्रयुक्त होगा।

CWM : Vol.1, p. 355, Prayers and Medidations — श्रीमाँ

---

१. सीजर रोम साम्राज्य का रुबीकन नदी के इस पार एक छोटा जागीरदार था । सेना के साथ रुबीकन नदी पार करने का अर्थ था टारपेइन पहाड़ी पर स्थित रोम सम्राट के किले पर आक्रमण जिसे कैपिटोल कहा जाता था । विजयी होने पर वह कैपिटोल का स्वामी बन जाता या पराजित होने पर टारपेइन की शिला पर उसे मिलती मौत ।

श्रीमाँ की शांति

श्रीमाँ की शान्ति तुम्हारे ऊपर है — अभीप्सा तथा अचंचल आत्म उद्‌घाटन द्वारा इसका अवरोहण होता है। जब यह प्राण तथा शरीर को अधिकृत कर लेती है तब समचित्तता सरल हो जाती है तथा अन्त में स्वचालित बन जाती है।

CWSA : Vol 32, p. 135, 28.8.1933 — श्रीअरविन्द

श्रद्धा की समस्या

श्रद्धा दो प्रकार की होती है :

एक वह श्रद्धा जो समचित्तता को नीचे लाती है और दूसरी वह श्रद्धा जो सिद्धि को बुलाती है।

ये दोनों श्रद्धाएं भगवान के दो विभिन्न पक्षों से सम्बन्धित हैं।

एक विश्वीतीत भगवान हैं और दूसरे वैश्व भगवान।

सिद्धि का संकल्प विश्वातीत भगवान का होता है।

वैश्व भगवान का सम्बन्ध वर्तमान परिस्थितियों के अन्तर्गत चीजों के कार्यान्वयन के साथ होता है। वैश्व भगवान का संकल्प ही विश्व की प्रत्येक परिस्थिति, प्रत्येक गति में अभिव्यक्त होता है।

वैश्व संकल्प, हमारी सामान्य चेतना के लिए, स्वतंत्र शक्ति के रूप में जो चाहे नहीं कर सकता। यह संकल्प इन सत्ताओं के द्वारा, विश्व में कार्यरत शक्तियों के द्वारा तथा इन शक्तियों के विधान और उनके परिणामों के द्वारा कार्य करता है। जब हम अपने आप को उद्‌घाटित करते तथा सामान्य चेतना से बाहर निकलते हैं केवल तभी हम इसे स्वतन्त्र शक्ति के रूप में हस्तक्षेप करते हुए तथा शक्तियों की सामान्य क्रीड़ा को अस्वीकृत करते हुए महसूस करते हैं।

तब हम यह भी देख सकते हैं कि शक्तियों की क्रीड़ा में भी, उनकी विकृतियों के बावजूद, वैश्व संकल्प विश्वातीत भगवान के संकल्प की अन्ततः सिद्धि की ओर कार्यरत रहता है।

अतिमानसिक सिद्धि विश्वातीत भगवान का संकल्प है जिसे हमें कार्यान्वित करना है। जिन परिस्थितियों में इसे हमें कार्यान्वित करना है वे निम्न चेतना की हैं जिनमें हमारी अपनी अज्ञानता, दुर्बलता तथा गलतियों के द्वारा और परस्पर विरोधी शक्तियों के संघर्ष द्वारा चीजों को विरूपित किया जा सकता है। इसीलिए श्रद्धा तथा समचित्तता अपरिहार्य हैं।

हमें यह विश्वास बनाये रखना होगा कि हमारे अज्ञान, भूलों तथा दुर्बलताओं के बावजूद, विरोधी शक्तियों के आक्रमण तथा विफलता की आसन्न प्रतीति के रहते हुए भी, भागवत संकल्प प्रत्येक परिस्थिति में से निकालते हुए, अन्तिम सिद्धि की ओर हमें लिये जा रहा है। यह श्रद्धा हमें समचित्तता प्रदान करेगी। यह श्रद्धा, जो कुछ घटित होता है उसे स्वीकार करती है अन्तिम परिणाम के रूप में नहीं बल्कि मार्ग में ऐसी चीज के रूप में जिससे होकर गुजरना पड़ता है। एक बार समचित्तता स्थापित हो जाने पर इसके समर्थन से एक दूसरी प्रकार की श्रद्धा भी स्थापित की जा सकती है जो अतिमानसिक चेतना की किसी चीज के साथ गत्यात्मक बनायी जा सकती है। यह वर्तमान परिस्थितियों पर विजय प्राप्त कर सकती है तथा क्या होगा इसका निर्धारण कर सकती है औऱ विश्वातीत भगवान के संकल्प की सिद्धि को नीचे लाने में मदद कर सकती है।

वह श्रद्धा, जो वैश्व भगवान के प्रति होती है, क्रीड़ा की आवश्यकताओं के द्वारा, अपनी क्रियात्मक शक्ति में सीमित कर दी जाती है।

इन सीमितताओं से पूरी तरह मुक्त होने के लिए व्यक्ति को विश्वातीत भगवान तक पहुँचना होगा।

CWSA Vol.29, pp. 90-91 — श्रीअरविन्द

भौतिक में अवतरण

जो तुम अनुभव कर रहे हो वह एक ऐसी स्थिति है जो तब आती है जब सम्पूर्ण चेतना भौतिक में उतर आयी हो। इसका उद्देश्य होता है उच्चतर चेतना को बाह्य प्रकृति में उतारना। सबसे पहले बाहरी प्रकृति में पहले की अपेक्षा केवल अधिक शान्ति तथा अचंचलता की प्रवृति मालूम पड़ती है, किन्तु कोई नयी सकारात्मक अनुभूति नहीं होती। सबसे पहले भौतिक चेतना पर अन्य चीजों के आधार के रूप में अचंचलता, शान्ति तथा समचित्तता प्राप्त करने के लिए कार्य किया जाता है किन्तु निष्पक्ष अचंचलता की प्रवृति ही है जो अनियमित रूप से शान्ति तथा नीरवता के साथ निष्क्रियता के समान प्रतीत होती है। आवश्यकता है शान्ति और नीरवता तथा एक सुदृढ़ समचित्तता को अन्दर से बाहरी प्रकृति में तथा शरीर के कोषाणुओं तक में उतारना। किन्तु कठिनाई यह होती है कि भौतिक प्रकृति में अभीप्सा के लिए प्रवृति नहीं होती। इसकी आदत है यह प्रतीक्षा करना कि उच्चतर शक्तियाँ अपना कार्य करेंगी, तथा निष्क्रिय बने रहना। मैं समझता हूँ कि तुम यही कठिनाई महसूस कर रहे हो। मैंने स्वयं साधना के एक चरण में प्रायः और लम्बी अवधि तक इसे महसूस किया है। इस चरण में, प्रगति करने के संकल्प की अचंचल एकाग्रता के रूप में एक शान्त पर आग्रही तपस्या की आदत का स्थिर विकास अत्यन्त सहायक सिद्ध होगा।

CWSA : Vol. 35, p. 378, 1 july 1934 — श्रीअरविन्द

समचित्तता का आधार

प्रश्नः जिसे आप ''बाह्य सत्ता में समचित्तता का आधार' मानती हैं, वह क्या है ?

उत्तर : यह है अच्छा स्वास्थ्य, एक सुदृढ़ शरीर, सुसन्तुलित। जब छोटी बालिका की तंत्रिका व्यक्ति में नहीं होती जो छोटी-मोटी चीजों से दहल जाये। जब व्यक्ति ठीक से सोता है, ठीक से खाता है। जब व्यक्ति सुस्थिर, सुसंतुलित, अचंचल रहता है तब उसके पास एक ठोस आधार होता है जो अधिक मात्रा में शक्तियों को ग्रहण कर सकता है।

यदि तुम लोगों में से किसी ने आध्यात्मिक शक्तियाँ ग्रहण की हैं, उदाहरण के लिए, भागवत आनन्द की शक्तियाँ, तब वह अनुभव से जानता है कि जब तक उसका स्वास्थ्य ठीक नहीं होगा वह उन्हें संभाल नहीं पायेगा, रख नहीं पायेगा। वह रोने, चीखने-चिल्लाने लगेगा। उसने जो ग्रहण किया है उसे खर्च करने के लिए बेचैन हो जायेगा। वह हँसेगा, बात करेगा, अंग-संचालन करेगा, अन्यथा वह उन्हें रख नहीं पायेगा। वह ऐसा महसूस करेगा मानों दम घुट रहा हो और इस प्रकार वह हँस कर, रोकर, अंग-संचालन कर उसने जो ग्रहण किया है उसे बाहर फेंक देता है।

सुसन्तुलित होने के लिए, जो उसने ग्रहण किया है उसे आत्मसात करने के लिए, व्यक्ति को बहुत अचंचल, बहुत स्थिर होना होगा। व्यक्ति के पास एक ठोस आधार होना चाहिये -- एक अच्छा स्वास्थ्य। यह बहुत महत्वपूर्ण है।

प्रश्नः बाह्य समता तथा आत्मा की समता में क्या अन्तर है ?

उत्तर : आत्मा की समता एक मनोवैज्ञानिक वस्तु है। सभी घटनाओं को अच्छा या बुरा, उदास हुए बिना, हतोत्साहित, निराश, क्षुब्ध हुए बिना, सहने की यह शक्ति है। जो कुछ भी हो जाये, तुम शान्त बने रहते हो।

दूसरी चीज है शरीर में समता। यह मनोवैज्ञानिक नहीं है, यह द्रव्यात्मक है, भौतिक सन्तुलन बनाये रखना है, बिना कष्ट के , अक्षुब्ध रह कर शक्तियों को ग्रहण करना है।

दोनों समान रूप से आवश्यक हैं यदि व्यक्ति साधना के पथ पर प्रगति करना चाहता है। उदाहरण के लिए, एक मानसिक सन्तुलन ऐसा हो कि सभी सम्भव विचार, अत्यन्त परस्पर विरोधी भी, सभी दिशाओं से आ जायें फिर भी व्यक्ति क्षुब्ध न हो। व्यक्ति उन्हें देख सकता है औऱ यथास्थान प्रत्येक को रख सकता है। यह है मानसिक सन्तुलन।

CWM : Vol 5, pp. 23-24 — श्रीमाँ

समता में है निर्विकार शान्ति

सतर्कता : समस्त सच्ची प्रगति के लिए अपरिहार्य। प्रत्येक मानव में एक पशु थोड़ी-सी भी असावधानी में व्यक्त होने के लिए घात में रहता है। इसका एकमात्र उपाय है सतत सतर्क रहना।

बुद्धिमानी : दुर्बलता के लिए बहुत उपयोगी, क्योंकि दुर्बलता को बुद्धिमानी की जरूरत पड़ती है, सबलता को इसकी जरूरत नहीं पड़ती।

सामान्य़ बुद्धि : यह बहुत व्यावहारिक है तथा गलतियों से दूर रखती है, किन्तु इसमें संघर्ष की कमी है।

सादगी ने कभी किसी की हानि नहीं की।

समता : निर्विकार शान्ति तथा स्थिरता। समता की गहरी शान्ति में प्रेम शुद्ध और सतत एकता में अपने पूर्ण विकास तक वर्धित होगा।

— श्रीमाँ

***

धन की क्षति का महत्व कम है, किन्तु सन्तुलन की क्षति कहीं अधिक महत्वपूर्ण चीज है।

२० अगस्त १९३५

समस्त दुष्टता सन्तुलन की कमी से आती है। इसलिए हम सब अपना सन्तुलन सावधानीपूर्वक, सभी परिस्थितियों में बनाये रखें।

१० अगस्त १९५४

पूर्ण सन्तुलन : वर्धनशील शान्ति की सबसे महत्वपूर्ण शर्तों में से एक।

CWM : Vol. 14, pp. 184-185 — श्रीमाँ

समता और अनासक्ति के साथ कठिनाइयों का सामना

इन चीजों से अपने को विचलित और विक्षुब्ध न होने दो। एक चीज जो हमेशा करने की है वह है भगवान के प्रति तुम्हारी अपनी अभीप्सा में दृढ़ बने रहना तथा सभी कठिनाइयों और सभी विरोधों का समचित्तता तथा अनासक्ति के साथ सामना करना। क्योंकि जो आध्यात्मिक जीवन यापन करना चाहते हैं उनके लिए सबसे पहली चीज है भगवान। अन्य़ सभी चीजें गौण होनी चाहिये।

अपने को अनासक्त रखो और इन चीजों को ऐसे व्यक्ति की स्थिर आन्तरिक दृष्टि से देखो जो भीतर से भगवान के प्रति समर्पित है।

अपने परिवेश तथा उनके विरोध से विक्षुब्ध मत हो। ऐसी परिस्थितियाँ पहले पहल एक अग्नि परीक्षा

के रूप में प्रायः आरोपित की जाती हैं। यदि तुम शान्त और अक्षुब्ध रह कर इन परिस्थितियों में अन्दर से दुःखी हुए बिना साधना जारी रख सको तब इससे तुम्हें ऐसी शक्ति प्राप्त करने में सहायता मिलेगी जिसकी तुम्हें सख्त जरूरत है। योग का पथ हमेशा आन्तरिक तथा बाहरी कठिनाइयों से घिरा रहता है और साधक को उनका सामना करने के लिए एक अचंचल, दृढ़ तथा ठोस शक्ति का विकास करना होगा।

***

आन्तरिक आध्यात्मिक प्रगति बाहरी अवस्थाओं पर उतनी निर्भर नहीं करती जितनी इस बात पर कि हम अन्दर से उनके साथ प्रतिक्रिया कैसे करते हैं — यह हमेशा आध्यात्मिक अनुभूति का अन्तिम विचार रहा है। यही कारण है कि हम समुचित मनोवृति अपनाने तथा इसे आग्रहपूर्वक बनाये रखने पर, बाहरी परिस्थितियों पर निर्भर न करनेवाली आन्तरिक स्थिति पर तथा समता औऱ स्थिरता पर अधिक बल देते हैं। यदि यह आन्तरिक प्रसन्नता के साथ तुरन्त सम्भव न हो सके तब अधिक से अधिक अन्दर जाकर बाहर देखना चाहिये न कि सतही मन में निवास करना चाहिये जो हमेशा जीवन के आघातों -प्रघातों की दया पर निर्भर करता है। आन्तरिक स्थिति में रह कर ही व्यक्ति जीवन तथा इसकी विक्षुब्धकारी शक्तियों से अधिक मजबूत बन सकता है और विजय की आशा कर सकता है।

अन्दर से अचंचल बने रहना, कठिनाइयों का सामना करने का दृढ़ संकल्प, कठिनाइयों अथवा उतार-चढ़ाव द्वारा क्षुब्ध या हतोत्साहित होने से इनकार — यह योग के पथ में सीखने की पहली चीजों में से एक है। ऐसा न करने से चेतना में अस्थिरता आ जाती है तथा अनुभूति को बनाये रखना कठिन हो जाता है जिसकी तुम्हें शिकायत है। केवल अन्दर से अचंचल और स्थिर बने रहने पर ही कुछ स्थिरता के साथ अनभूतियाँ होती रहती हैं यद्यपि ये कभी भी रुकावट तथा उतार-चढ़ाव की अवधियों के बिना नहीं होतीं। परन्तु ये अवधियाँ, समुचित रूप से इनका उपयोग करने पर साधना में व्यवधान बनने के स्थान पर, आत्मसात्करण और कठिनाइयों के ह्रास के अवसर बन सकती हैं।

बाहरी अवस्थाओं के स्थान पर एक आध्यात्मिक वातावरण अधिक महत्वपूर्ण है। यदि व्यक्ति उसे प्राप्त कर ले और अपना भी आध्यात्मिक वायुमंडल बना सके जिसमें वह सांस ले सके और निवास कर सके तब वह प्रगति की सच्ची अवस्था होगी।

Bases of Yoga pp. 13-15 — श्रीअरविन्द

समुचित मनोवृति

विक्षुब्ध न होना तथा अचंचलता और आत्मविश्वास बनाये रखना समुचित मनोवृति है, किन्तु श्रीमाँ की सहायता ग्रहण करना तथा किसी कारणवश उनकी चिन्ता और फिक्र से पीछे न हटना भी आवश्यक है। व्यक्ति को अपनी अक्षमता, प्रत्युत्तर देने की अयोग्यता, अपने दोषों और विफलताओं पर सोचते रहने और इस कारण दुःख व लज्जा का अनुभव करने सम्बन्धी विचारों से बचना चाहिये, क्योंकि ये धारणाएं व भावनाएं अन्त में व्यक्ति को कमजोर बना देती हैं। यदि कठिनाइयाँ, ठोकरें या विफलताएं हैं तो उन्हें शान्ति से देखना तथा शान्तिपूर्वक और आग्रहपूर्वक, उन्हें दूर करने के लिए, भागवत सहायता को पुकारना है, न कि घबराना या

दुःखी होना या हतोत्साहित होना है। योग का पथ आसान नहीं है तथा प्रकृति का पूर्ण रूपान्तरण एक दिन में नहीं किया जा सकता।

Bases of Yoga, p.19 — श्रीअरविन्द

विरोधी शक्तियाँ

प्रश्न : विरोधी शक्तियों का सामना कैसे करें जो अदृश्य होती हैं, फिर भी, जीवन्त तथा वास्तविक होती हैं?

उत्तर : बहुत कुछ इस बात पर निर्भर करता है कि तुम्हारी चेतना का विकास किस सीमा तक हुआ है। आरम्भ में, यदि तुम्हारे अन्दर कोई खास गुह्य ज्ञान और शक्ति नहीं है, तब सबसे अच्छा होगा कि तुम यथासम्भव अचंचल और शान्त बने रहो। यदि आक्रमण विरोधी सुझाव का रूप ले लेता है तब अचंचल रहते हुए उन्हें भगाने की कोशिश करो जैसे तुम किसी भौतिक चीज के साथ करते हो। तुम जितना अचंचल रहोगे उतना ही शक्तिशाली बनोगे। समस्त आध्यात्मिक शक्ति का सुदृढ़ आधार है समचित्तता। अपने सन्तुलन को बनाये रखो, तब तुम हर तरह के आक्रमण का सामना कर सकते हो। इसके अतिरिक्त, यदि तुममें पहचानने की कुशाग्र बुद्धि पर्याप्त है और अशुभ सुझावों को आते हुए देख और पकड़ सकते हो तब तुम्हारे लिए उन्हें भगाना और भी आसान है। परन्तु कभी-कभी वे अनदिखे आ जाती हैं तब उनके साथ संघर्ष करना कठिन हो जाता है। जब ऐसी स्थिति आ जाये तब तुम्हें चुपचाप बैठकर शान्ति तथा गहरी आन्तरिक अचंचलता को पुकारना होगा। अपने आप को दृढ़ बनाये रखो तथा आत्मविश्वास औऱ श्रद्धा के साथ सहायता के लिए पुकारो। यदि तुम्हारी अभीप्सा शुद्ध है, स्थिर है तब निश्चय ही सहायता मिलेगी।

विरोधी शक्तियों के आक्रमण अपरिहार्य होते हैं। तुम्हें उन्हें अपने मार्ग की परीक्षाओं की तरह समझना होगा और साहस के साथ उनका सामना करना होगा। संघर्ष कठिन हो सकता है, किन्तु जब तुम इससे बाहर निकल आते हो तब तुम्हें लगेगा कि तुमने कुछ उपलब्ध कर लिया है, तुम एक कदम आगे बढ़ गये हो। विरोधी शक्तियों के अस्तित्व की आवश्यकता भी होती है। वे तुम्हारे संकल्प को अधिक सुदृढ़, तुम्हारी अभीप्सा को अधिक स्पष्ट बनाती हैं।

जो भी हो, यह सच है कि उनका अस्तित्व है क्योंकि उनके अस्तित्व का कारण तुमने दिया है। जब तक तुम्हारे अन्दर कोई ऐसी चीज है जो उन्हें प्रत्युत्तर देती है तब तक उनका हस्तक्षेप पूर्णतः न्यायसंगत है। यदि तुम्हारी ओर से कुछ प्रत्युत्तर न मिले, यदि तुम्हारी प्रकृति के किसी भाग पर उनका अधिकार न हो, तब वे तुम्हें छोड़ देंगे। हर हालत में तुम्हारी आध्यात्मिक प्रगति को वे न तो रोकते हैं, न बाधा पहुँचाते हैं।

विरोधी शक्तियों के साथ युद्ध में विफलता का केवल एक ही कारण हो सकता है — भागवत सहायता में सच्चे विश्वास की कमी। अभीप्सा में सच्चाई हमेशा अपेक्षित सहायता अवश्य लाती है। एक शान्त पुकार, और यह दृढ़ विश्वास कि सिद्धि के आरोहण में तुम बिलकुल अकेले नहीं जा रहे हो और यह श्रद्धा कि जब भी सहायता की आवश्यकता होगी वह अवश्य आयेगी — ये चीजें लक्ष्य तक सरलता और सुरक्षा के साथ अवश्य पहुँचा देंगी।

CWM : Vol.3, pp. 33-34 — श्रीमाँ

प्राणिक सत्ताएं

प्रश्न : क्या व्यक्ति प्राणलोक की सत्ताओं से उनके अपने लोक में मिल सकता है?

उत्तर : प्राणिक सत्ताएं अतिभौतिक लोक में भ्रमण करती हैं जहाँ मनुष्य, यदि वहाँ प्रवेश कर जायें, किंकर्त्तव्य विमूढ़, असहाय तथा अरक्षित महसूस करते हैं। मनुष्य भौतिक शरीर में स्वाभाविक चैन और सुरक्षित अनुभव करता है। शरीर उसकी सुरक्षा है। कुछ लोग ऐसे होते हैं जो अपने शरीर से घृणा करते हैं और सोचते हैं कि मृत्यु के पश्चात शरीर के बिना चीजें कहीं अधिक उत्तम तथा आसान होंगी। परन्तु वास्तव में शरीर तुम्हारा गढ़ तथा शरणालय है। जब तुम इसमें निवास किये रहते हो, विरोधी शक्तियों को सीधा तुम पर अधिकार करने में कठिनाई होती है। दुःस्वप्न क्या हैं? ये प्राण लोक में तुम्हारी उड़ानें होती हैं। और वह पहली चीज क्या है जो तुम दुःस्वप्न की पकड़ में आने पर करते हो? तुम भाग कर अपने शरीर में प्रवेश कर जाते हो और अपनी सामान्य भौतिक चेतना में आकर सुरक्षित महसूस करते हो। परन्तु प्राणिक शक्तियों के लोक में तुम अजनबी हो। यह एक अज्ञात सागर है जिसमें तुम्हारे पास न कम्पास है, न पतवार। तुम नहीं जानते कहाँ और कैसे जायें और हर कदम पर तुम वही करते हो जो नहीं करना चाहिये। इस लोक के किसी क्षेत्र में सीधे प्रवेश करने पर इसकी सत्ताएं तुम्हें चारों ओर से एकत्र होकर घेर लेती हैं और तुम्हारे पास जो कुछ है और जो कुछ ले सकती हैं उसे लेकर अपना आहार बनाती हैं। यदि तुम्हारे पास तुम्हारे अन्दर से विकीर्ण होती हुई सबल ज्योति और शक्ति नहीं है तब तुम वहाँ शरीर के बिना ऐसे घूमते हो मानों सर्दी से बचने के लिए तुम्हारे पास कोट नहीं हो, आश्रय के लिए कोई घर नहीं और आच्छादित करने के लिए चर्म नहीं हो, स्नायु तंत्र मानो अनावृत हो। कुछ व्यक्ति कहते हैं, ''इस शरीर में कितना दुःखी हूँ।'' और पलायन के रूप में मृत्यु के बारे में सोचते हैं। परन्तु मृत्यु के बाद तुम उसी प्राणिक परिवेश में रहते हो और उन्हीं शक्तियों के खतरों से घिरे रहते हो जो इस जीवन में तुम्हारे दुःख के कारण हैं। शरीर की मृत्यु तुम्हें प्राणिक लोक के खुले वातावरण में जाने के लिए बाध्य कर देती है। और अब तुम्हारे पास कोई सुरक्षा कवच नहीं होता। अब वह भौतिक शरीर नहीं होता जिसमें सुरक्षा के लिए तुम दौड़ कर प्रवेश कर सको।

यहीं धरती पर, शरीर में ही, तुम्हें पूरा ज्ञान प्राप्त करना होगा तथा एक सम्पूर्ण शक्ति का उपयोग करना सीखना होगा। जब तुम यह कर चुके हो तभी तुम सभी लोकों में पूर्ण सुरक्षा के साथ भ्रमण करने के लिए स्वतन्त्र हो सकोगे। जब तुम्हें किंचित भय नहीं होगा, जब तुम निकृष्ट से निकृष्ट दुःस्वप्न में भी विचलित नहीं होगे तभी तुम कह सकते हो, ''मैं प्राणिक लोक में जाने के लिए तैयार हूँ।'' परन्तु इसका अर्थ है एक ऐसी शक्ति तथा ज्ञान की प्राप्ति जो तभी आ सकती है जब प्रकृति के प्राणिक आवेगों तथा कामनाओं के पूर्ण स्वामी बन जाते हो। तुम्हें हर चीज से पूर्णतः मुक्त होना होगा जो अन्धकार की सत्ताओं को आमंत्रित करती या तुम पर शासन करने के लिए सहमति या स्वीकृति देती है। यदि तुम मुक्त नहीं हो, तब सावधान !

कोई आसक्ति नहीं, कोई कामना नहीं, आवेग नहीं, कोई प्राथमिकता नहीं, पूर्ण समचित्तता, अचल शान्ति तथा भागवत सुरक्षा में पूर्ण श्रद्धा। इसके साथ तुम सुरक्षित हो। इसके बिना तुम खतरे में हो। और जब

तक तुम सुरक्षित नहीं हो तब तक अच्छा है तुम छोटी चूजों की तरह माँ के डैनों के आश्रय में पड़े रहो।

CWM : Vol.3, pp. 46-48 — श्रीमाँ

योग के लिए अनिवार्य आधार — समचित्तता

प्रश्न : किसी ने कहा है कि जब तुम योग का द्वार खोलते हो तब अनेक बाधाओं का सामना करना पड़ता है। क्या यह सच है?

उत्तर : यह अन्तिम नियम नहीं है और बहुत कुछ व्यक्ति पर निर्भर करता है। बहुतों को उनकी प्रकृति में कमजोरियों की परीक्षा के रूप में प्रतिकूल परिस्थितियों का सामना करना पड़ता है। योग के लिए अनिवार्य आधार, जो मार्ग पर निर्बाध रूप से चलने के लिए सुदृढ़ रूप से प्रतिष्ठित होना चाहिये, वह है समचित्तता। स्वाभाविक रूप से, उस दृष्टिकोण से सभी बाधाएं परीक्षाएं हैं जिनसे होकर तुम्हें गुजरना पड़ता है। लेकिन वे तुम्हारी मानसिक रचनाओं द्वारा निर्मित तुम्हारे चारों ओर की उन सीमाओं को तोड़ने के लिए जरूरी हैं जो प्रकाश तथा सत्य के प्रति तुम्हारे उद्‌घाटन को रोकती हैं।

CWM : Vol.3, pp. 52-53 — श्रीमाँ

(प्रश्नोत्तर १९ मई १९२९)

समचित्तता

सभी घटनाओं के समक्ष व्यक्ति जितना अचंचल रहता है, सभी परिस्थितियों में जितनी समता बनाये रखता है तथा जो कुछ होता है उसके प्रति जितना आत्म-संयम रखकर शान्त रहता है, उतना ही वह लक्ष्य की ओर आगे बढ़ जाता है।

Spiritual Significance of Flowers, p. Nil — श्रीमाँ

पीड़ा और समचित्तता

तुम्हारे लिए मेरा सन्देश है : पीड़ा को पोसो-दुलारो नहीं और यह तुम्हें बिलकुल छोड़ देगा। पीड़ा प्रगति के लिए बिलकुल जरूरी नहीं है। बड़ी से बड़ी प्रगति एक स्थिर तथा प्रसन्न समचित्तता में की जाती है।

CWM : Vol.14, p. 247 — श्रीमाँ

विकर्षण और समचित्तता

प्रश्न : जब व्यक्ति कुछ पशुओं जैसे सर्प या बिच्छु के प्रति सहज रूप से विकर्षण महसूस करता है तब उसका आधार क्या होता है?

उत्तर : यह आवश्यक नहीं कि व्यक्ति ऐसा या किसी तरह का विकर्षण महसूस करे। किसी प्रकार का भी विकर्षण बिलकुल महसूस न करना योग की एक आधारभूत उपलब्धि है।

जिस विकर्षण की तुम बात करते हो वह भय से आता है। यदि भय न हो तब इसका अस्तित्व न होगा। भय बुद्धि या तर्क पर आधारित नहीं होता। यह सहज बोध है। यह वैयष्टिगत नहीं होता, जातिगत होता है। यह सामान्य सुझाव है औऱ सम्पूर्ण मानवता की चेतना में सहज भाव से रहता है। जब व्यक्ति मानव शरीर धारण करता है तब वह इसके साथ इन सामान्य सुझावों, जातिगत विचारों, मानव जाति की जातिगत भावनाओं, संस्कारों, आकर्षणों, विकर्षणों, भय के संवेदनों को भी स्वीकार करता है।

परन्तु दूसरे दृष्टिकोण से, आकर्षण-विकर्षण की प्रकृति में बहुत कुछ व्यक्तिगत भी होता है, क्योंकि ऐसी बातें हरेक व्यक्ति के लिए वही नहीं होतीं औऱ भिन्न-भिन्न लोगों में प्राणिक सत्ता के कम्पन पर अधिकतर निर्भर करती हैं। कुछ ऐसे लोग भी होते हैं जिनमें न केवल सर्प जैसे प्राणियों के प्रति विकर्षण का अभाव होता है बल्कि उनके लिए प्राणिक आकर्षण औऱ पसन्द का भाव भी होता है।

संसार में ऐसी चीजें भरी पड़ी हैं जो आनन्ददायक और सुन्दर नहीं है, किन्तु यह कोई कारण नहीं है कि व्यक्ति हमेशा इन चीजों के प्रति घृणा करता रहे। संकुचन, घृणा तथा भय के सारे भावों को, जो मानव मन को क्षुब्ध करते औऱ दुर्बल बना देते हैं, जीता जा सकता है। योगी को इन प्रतिक्रियाओं को विजित करना होगा, क्योंकि योग में करीब-करीब पहला कदम ही यह मांग करता है कि तुम्हें सभी प्राणियों, वस्तुओं और घटनाओं के बीच एक पूर्ण समता बनाये रखना होगा। हमेशा तुम्हें स्थिर, अप्रभावित तथा अचल रहना होगा। योग में इतनी सामर्थ्य होती है। एक पूर्ण स्थिरता तथा अचंचलता खतरनाक तथा भयानक जानवरों को भी वशीभूत कर देती है यदि वे सामने आ जायें।

विकर्षण अज्ञान की एक गति है। यह आत्म-रक्षा की सहज प्रवृति औऱ चेष्टा है। लेकिन किसी खतरे

से जो सर्वोत्तम सुरक्षा तुम्हें प्रदान करेगा वह बेमतलब का घृणा से पीछे हटना या झिझक नहीं, बल्कि वह ज्ञान है, खतरे की प्रकृति का ज्ञान तथा साधन का सचेतन प्रयोग जो इसे प्रभावहीन कर देता है। इन गतिविधियों से उत्पन्न अज्ञान एक सामान्य मानव अवस्था है किन्तु इसे नियन्त्रित या विजित किया जा सकता है क्योंकि, हम सब अपने चारों ओर व्याप्त इस अपरिष्कृत मानव प्रकृति से बंधे हुए नहीं है जहाँ से बाह्य सत्ता आरम्भ होती है।

अज्ञान एक वर्धनशील चेतना से हटाया जाता है। तुम्हें जिस चीज की जरूरत है वह है चेतना और हमेशा अधिक से अधिक चेतना, विशुद्ध, निष्कपट तथा ज्योतिर्मय।...

इस पूर्ण चेतना को प्राप्त करने का मार्ग है तुम्हारी अपनी वास्तविक चेतना को इसकी वर्तमान खांचों तथा सीमाओं से परे बढ़ाना, इसे भागवत प्रकाश के प्रति खोलना और इसमें भागवत प्रकाश को पूर्ण रूप से तथा मुक्त रूप से कार्य करने देना। परन्तु प्रकाश अपना कार्य पूर्ण रूप से, अबाधित, तभी करेगा जब तुम समस्त लालसा तथा भय से मुक्त हो जाओगे, तुम्हारे अन्दर कोई मानसिक पक्षपात, प्राणिक प्राथमिकता, भौतिक आशंका या आकर्षण नहीं रहेगा जो तुम्हें बांध सके। ...

CWM : Vol.3, p.100 — श्रीमाँ

सामान्य जीवन और सच्ची आत्मा

सामान्य जीवन विविध कामनाओं तथा लोभों का आवर्तन-चक्र है। जब तक व्यक्ति उनमें व्यस्त रहता है, तब तक कोई स्थायी प्रगति नहीं हो सकती। उसमें से बाहर आने का मार्ग खोजना होगा। उदाहरण के रूप में, सामान्य जीवन में अधिकांश लोग निरन्तर इस चिन्ता में व्यस्त रहते हैं कि वे क्या खायेंगे, कब खायेंगे तथा क्या वे पर्याप्त मात्रा में खा रहे हैं या नहीं। खाने-पीने के लोभ पर नियन्त्रण के लिए सत्ता में समचित्तता इतनी मात्रा में विकसित करनी होगी कि तुम भोजन के प्रति पूर्ण रूप से उदासीन बन जाओ। यदि भोजन मिल जाये, तुम खा लो, यदि नहीं, तब तुम्हें कुछ भी चिन्ता नहीं हो। सबसे अच्छा तो यह होगा कि तुम भोजन के विषय में हमेशा सोचते न रहो। और न नकारात्मक रूप से ही सोचो। संन्यासियों के समान अति संयम की विधियों तथा साधनों की खोज करते रहना भी भोजन की चिन्ता में उतना ही व्यस्त रहना है जितना इसके लोभ लालच के साथ इसके बारे में सोचते रहना। इसके लिए उदासीनता की मनोवृति रखो, यह मुख्य चीज है। अपनी चेतना से भोजन का विचार निकाल दो। इसे कुछ भी महत्व न दो।

ऐसा करना अति सरल हो जायेगा यदि एक बार तुम अपने चैत्य पुरुष के सम्पर्क में आ जाओ जो तुम्हारे अन्दर गहराई में सच्ची आत्मा है। तब तुम तुरन्त महसूस करोगे कि ये चीजें कितनी महत्वहीन हैं। चैत्य की चेतना में निवास करना समस्त लोभ से ऊपर उठना है। तुम्हारे अन्दर कोई ललक, कोई चिन्ता, कोई उत्तेजित करने वाली कामना नहीं होगी। और तुम यह भी अनुभव करोगे कि जो कुछ होता है, सर्वोत्तम के लिए होता है। इसका अर्थ यह नहीं कि हर चीज सर्वोत्तम के लिए होती है। जब तक तुम सामान्य चेतना में रहते हो हर चीज सर्वोत्तम के लिए नहीं होती। जब तक तुम चेतना की समुचित स्थिति में नहीं हो, तुम बिलकुल गलत रास्ते में भटक सकते हो।

लेकिन एक बार चैत्य में स्थापित हो जाते हो और भगवान को आत्म समर्पित हो जाते हो तब सब कुछ जो होता है वह सर्वोत्तम के लिए ही होगा, हर चीज, चाहे वह कितने ही छद्मावरण में हो, वह तुम्हारे लिए सुनिश्चित भागवत प्रत्युत्तर होगी।

निश्चित ही, वास्तविक आत्म दान की क्रिया ही इसका अपना तात्कालिक पुरस्कार है — यह अपने साथ ऐसी प्रसन्नता, ऐसा आत्म विश्वास, ऐसी सुरक्षा लाती है जैसी कोई अन्य चीज नहीं दे सकती। परन्तु जब तक आत्म दान सुदृढ़ रूप से चैत्यिक नहीं हो जाता, विक्षुब्धता रहेगी, उज्ज्वल क्षणों के बीच में अन्धकार का अन्तराल रहेगा। केवल चैत्य ही अखण्डित रूप से प्रगति करता रहता है। इसकी गति सतत आरोहण की होती है। अन्य सभी गतियाँ खण्डित तथा विच्छिन्न होती हैं। जब तक चैत्य को अपना स्वरूप न समझो तब तक तुम एक सच्चा व्यष्टि भी नहीं बन सकते क्योंकि यही तुम्हारे अन्दर सच्चा 'तुम' हो। सच्चा स्वरूप जब तक ज्ञात नहीं हो जाता, तुम एक सार्वजनिक स्थान हो, एक वैयष्टिक सत्ता नहीं। तुम्हारे अन्दर कितनी ही परस्पर विरोधी शक्तियाँ कार्यरत हैं। इसलिए यदि तुम सच्ची प्रगति करना चाहते हो तो अपनी सत्ता को पहचानो जो भगवान के साथ सतत सम्पर्क में रहती है। केवल तभी रूपान्तर सम्भव होगा। तुम्हारी प्रकृति के अन्य सभी भाग अज्ञानी हैं। मन, उदाहरण स्वरूप, प्रायः यह सोचने की भूल करता है कि हर शानदार विचार ज्योतिर्मय विचार भी है। यह समान बल के साथ भगवान के पक्ष और विपक्ष में तर्क उपस्थित कर सकता है। इसमें सत्य की अकाट्य बुद्धि नहीं है। प्राण सामान्य रूप से किसी भी शक्ति प्रदर्शन से प्रभावित हो जाता है और इसमें भगवान का प्रतिबिम्ब देखना चाहता है। केवल चैत्य के पास सही विवेक है। यह सीधा परम उपस्थिति के प्रति सचेतन रहता है। यह निर्भूल रूप से दिव्य और अदिव्य का अन्तर जानता है। यदि एक क्षण के लिए भी तुम्हें इसका सम्पर्क मिला है, तब भगवान के बारे में ऐसी दृढ़ धारणा तुम्हारे अन्दर बैठ जायेगी जिसे कुछ भी डिगा नहीं सकती।

तुम पूछते हो कि हम अपनी सच्ची सत्ता को कैसे जान सकते हैं? इसके लिए मांग करो, इसकी अभीप्सा करो, इसकी कामना करो जैसे किसी अन्य चीज के लिए करते हो। तुममें से अधिकांश इसके द्वारा प्रभावित हैं, किन्तु इसे प्रभाव से कुछ अधिक होना चाहिये। तुम्हें इसके साथ एकरूपता महसूस करनी चाहिये। पूर्णता के लिए समस्त प्रेरणा इसी से आती है किन्तु तुम उद्गम से अनजान हो। तुम इसके प्रकाश के साथ तदात्म नहीं हो। ऐसा मत समझो कि जब मैं चैत्य के बारे में बोलती हूँ तब मैं तुम्हारे भावनात्मक भाग के विषय में बात कर रही हूँ। भावना उच्चतर प्राण की चीज है, न कि शुद्ध चैत्य की। चैत्य एक स्थिर ज्योति है जो तुम्हारे अन्दर भगवान की ओर उर्ध्वगमन करती प्रज्वलित है और अपने साथ एक ऐसी शक्ति वहन करती है जो समस्त विरोध को धराशायी कर देती है। जब तुम इसके साथ तदात्म होते हो तब तुम्हें भागवत सत्य की अनुभूति होती है। तब तुम यह भी अनुभव करोगे कि सारा संसार अज्ञानवश अपने सिर के बल हवा में पाँव उठाये चल रहा है!

तुम्हें सीखना होगा कि जिसे अपना व्यष्टिगत स्वरूप तुम मानते हो उसे अपनी सच्ची चैत्य व्यष्टि के साथ कैसे एक किया जाये। तुम्हारी वर्तमान वैयष्टिकता एक मिश्रण है, परिवर्तनों का एक सिलसिला जो अभी भी एक प्रकार का सातत्य, कुछ एकरूपता बनाये रखता है। यह लगभग एक नदी के समान है जो कभी भी एक रूप नहीं रहती फिर भी अपनी एक विशिष्ट निश्चितता तथा इसका अपना सातत्य बना रहता है। तुम्हारा सामान्य 'स्व' तुम्हारी सच्ची वैयष्टिकता की मात्र छाया है जिसे तुम तभी अनुभव करोगे जब यह सामान्य व्यष्टि-सत्ता — जो भिन्न-भिन्न समय पर भिन्न-भिन्न भंगिमा ग्रहण करती है, कभी मन में, कभी प्राण में, कभी

भौतिक में — चैत्य के सम्पर्क में आ जाये और इसे अपनी वास्तविक सत्ता के रूप में महसूस करे। तब तुम एक सच्ची व्यष्टिगत सत्ता बन जाओगे और स्थायी प्रगति करोगे तथा भोजन के प्रति लोभ जैसी चीजों से ऊपर उठ जाओगे।

CWM : Vol.3, pp. 123-125 — श्रीमाँ

समस्याएं और समता

जो सच्चे और निष्कपट हैं उन्हें मैं मदद कर सकती हूँ और आसानी से भगवान की ओर मोड़ सकती हूँ। परन्तु जहाँ कपट है, वहाँ कुछ नहीं कर सकती। और जैसा कि मैंने पहले ही कहा है, हमलोगों को धैर्य रखना होगा और चीजें बेहतर होने तक प्रतीक्षा करनी होगी। किन्तु निश्चय ही मैं नहीं समझती क्यों तुम्हें क्षुब्ध होना चाहिये और तुम्हारी विक्षुब्धता किस प्रकार चीजों को बेहतर बनाने में सहायक बनेगी। तुम अनुभव से जानते हो कि भ्रान्ति तथा अन्धकार से निकलने का एक ही मार्ग है। यह है अचंचल और शान्त बने रहना, समता में दृढ़ बने रहना तथा तूफान को गुजर जाने देना। इन तुच्छ झगड़ों और कठिनाइयों से ऊपर उठो और एक बार पुनः मेरे प्रेम के प्रकाश और शक्ति में, जो तुम्हें कभी नहीं छोड़ती, जागो।

समस्त मनोमालिन्य का सामना समता की भावना से किया जाना चाहिये।

CWM : Vol. 14, p. 226 — श्रीमाँ

सहिष्णुता और समता

सहिष्णुता दम्भ की भावना से भरी होती है। इसके स्थान पर होना चाहिये एक पूर्ण समझदारी।

सहिष्णुता प्रज्ञा की ओर केवल पहला कदम है। सहन करने की आवश्यकता प्राथमिकताओं की उपस्थिति की ओर संकेत करती है।

जो व्यक्ति भागवत चेतना में निवास करता है, वह सभी वस्तुओं को एक पूर्ण समता के साथ देखता है।

CWM : Vol. 14, p. 187 — श्रीमाँ

श्रद्धा बनाये रखो

यदि तुम श्रद्धा बनाये रखो और अपना हृदय मेरी ओर उद्‌घाटित रखो, तब सभी कठिनाइयाँ चाहे कितनी भी बड़ी हों, तुम्हारी सत्ता की महत्तर पूर्णता में योगदान करेंगी।

१९ अप्रैल १९३७

***

बाह्य परिस्थितियों से अपने आप को अन्दर या पीछे निवर्तित करने का प्रयास करो जो ऐसी चीजों से परेशान हो जाती हैं और अन्दर शान्ति प्राप्त करो जो हमेशा अक्षुण्ण रहती है।
१४ नवम्बर १९३७

***

हमेशा जब व्यक्ति कठिनाइयों का सामना करता है और उन पर विजय प्राप्त कर लेता है तब यह एक नया आध्यात्मिक उद्‌घाटन और विजय आरम्भ करता है।
७ दिसम्बर १९३७

***

जब तुम प्रगति करना चाहते हो तब कठिनाई, जिसे तुम जीतना चाहते थे, तुम्हारी चेतना में महत्व और तीव्रता की दृष्टि से दस गुना बढ़ जाती है। तुम्हें केवल अध्यवसाय करना है। बस ! यह चली जायेगी।

***

साधना हमेशा कठिन होती है तथा प्रत्येक व्यक्ति की प्रकृति में परस्पर विरोधी तत्व होते हैं और प्राण से उसकी गहरी या अमिट आदतों को छुड़ाना कठिन होता है। परन्तु यह कोई कारण नहीं है कि साधना करना छोड़ दो। व्यक्ति को केन्द्रीय अभीप्सा को जीवन्त बनाये रखना होता है जो हमेशा सच्ची होती है तथा तात्कालिक विफलताओं के बावजूद स्थिरतापूर्वक जारी रखना होता है। तब अनिवार्य रूप से परिवर्तन आयेगा।
प्रेम और आशीर्वाद के साथ,

CWM : Vol.14, pp. 227-28 — श्रीमाँ

अग्नि परीक्षाओं का सामना मुस्कान के साथ

अग्नि परीक्षाएं सबके लिए आती हैं। व्यक्ति उनका सामना कैसे करता है यह महत्वपूर्ण है। कुछ लोग मुस्कान के साथ उनका सामना करते हैं, कुछ घबरा जाते हैं।

जब भी चीजें कठिन हो जायें, हमें अचंचल तथा नीरव रहना चाहिये।
११ अप्रैल १९५४

कठिनाई कैसी भी हो, यदि हम सचमुच अचंचल रहें तब समाधान आयेगा।
८ अगस्त १९५४

भूलें सोपान बन सकती हैं, अन्धे की तरह टटोलन को विजय में बदला जा सकता है।
८ दिसम्बर १९५४

***

अपनी अभीप्सा को अटल बनाये रखना तथा अपने आप को पूर्ण निष्कपटता के साथ देखना — सभी विरोधों को जीतने के ये सुनिश्चित साधन हैं।
१० मई १९५५

सभी कठिनाइयाँ निष्ठा या श्रद्धा की परीक्षा के लिए आती हैं।
१३ जून १९५६

***

जीवन को सीधा आत्मा की आन्तरिक शक्ति से देखो और परिस्थितियों का स्वामी बन जाओ।
१९ सितम्बर १९५६
CWM : Vol. 14, pp. 229-30 — श्रीमाँ

भागवत उपस्थिति के प्रति सचेतन बनो

सभी कठिनाइयों का भगवान की बाहों में आश्रय लेने से समाधान हो जाता है, क्योंकि ये बाहें हमेशा प्रेम के साथ हमें आश्रय देने के लिए खुली रहती हैं। जब हर चीज विपरीत जाती हो तब व्यक्ति को स्मरण करना चाहिये कि भगवान सर्वशक्तिमान हैं।

भगवान हम सब के बीच उपस्थित हैं। जब हम उनका स्मरण करते हैं तब वह हमेशा पूर्ण शान्ति तथा समता के साथ परिस्थितियों का सामना करते के लिए शक्ति देते हैं। उनकी उपस्थिति के प्रति सचेतन बनो और तुम्हारी कठिनाइयाँ गायब हो जायेंगी।
७ नवम्बर १९७०

***

भगवान के प्रति एक सतत अभीप्सा में अन्दर निवास करना — यह, बाहरी परिस्थितियाँ जैसी भी हों, मुस्कान के साथ जीवन जीने और शान्ति में रहने के लिए समर्थ बनाता है।

आन्तरिक जीवन जीओ, बाहरी परिस्थितियों से डगमगाओ नहीं।
२६ जुलाई १९७१

***

जो सत्य की सेवा के लिए जीता है वह बाहरी परिस्थितियाँ से प्रभावित नहीं होता।

केवल भगवान के लिए जीना : इसका अर्थ है कि वैयष्टिक जीवन की सभी कठिनाइयों को जीत लिया गया है।

CWM : Vol.14, p.232 — श्रीमाँ

हमेशा स्थिर और शान्त बने रहो

ध्यान रखो कि तुम हमेशा स्थिरचित्त औऱ शान्त बने रहो और अपनी सत्ता में अधिक से अधिक पूर्णता के साथ एक समग्र समता को स्थापित होने दो। अपने मन को अति सक्रिय और विक्षुब्ध न करो। चीजों के सतही दृष्टिकोण के आधार पर निष्कर्ष न निकालो। हमेशा निर्णय पर पहुँचने के लिए समय लगाओ। केवल एकाग्रचित्त होकर अचंचल स्थिति में निर्णय लो।

***

प्रश्न : माँ, बहुत दिनों से मैं अत्यन्त कष्ट में हूँ। आन्तरिक सत्ता कष्ट झेल रही है और भागवत चेतना के साथ संयुक्त होना चाहती है परन्तु बाह्य चेतना के कारण नहीं हो पाती। माँ, मैं सचमुच कष्ट में हूँ।

उत्तर : तुम जानते हो कि स्थिरचित्त होना अनिवार्य है। स्थिरचित्त बनने के लिए कठिन प्रयास करो। तब स्थिरता में श्रीअरविन्द से प्रार्थना करो कि वे तुम्हें समुचित चेतना प्रदान करें। पूरी सच्चाई, श्रद्धा तथा विश्वास के साथ प्रार्थना करो। एक दिन तुम्हारी प्रार्थना निश्चय ही स्वीकार कर ली जायेगी।

***

प्रश्न : कभी-कभी मैं पूर्णतः अचंचल रहता हूँ। मैं किसी से बात नहीं करता और अपने अन्दर रहता हूँ और भगवान के बारे में सोचता हूँ। क्या ऐसी स्थिति बनाये रखना अच्छा है ?

उत्तर : यह अति उत्तम स्थिति है जो व्यक्ति आसानी से बनाये रख सकता है। परन्तु यह निष्कपट होना चाहिये। मेरा मतलब है कि इसे अचंचलता की प्रतीति नहीं बल्कि वास्तविक गहरी स्थिरता होनी चाहिये जो सहज रूप से तुम्हें नीरव बना दे।

९ मार्च १९३३

***

पहला कदम है पूर्ण स्थिरता तथा समता।

२८ सितम्बर १९३७

तुम्हें कठिनाइयों के बीच स्थिर और अचंचल बने रहना सीखना होगा। बाधाओं को जीतने का यही मार्ग है।

प्रश्न : क्या स्थिरता सभी समस्याओं का समाधान दे सकती है ?

उत्तर : हाँ, किन्तु इसके लिए स्थिरता पूर्ण होनी चाहेये, सत्ता के सभी भागों में, जिससे इसके माध्यम से शक्ति अपने आप को अभिव्यक्त कर सके। जिससे अनुभूतियाँ विकृत तथा कष्टदायक न बन जायें, तुम्हें पूर्ण स्थिरता बनाये रखनी होगी। केवल शान्ति तथा स्थिरचित्तता में भागवत शक्ति अपने आप को अभिव्यक्त करती है औऱ कार्य करती है।

२६ जून १९६७

***

यह बहुत अच्छा हुआ कि तुमने स्थिरता पुनः प्राप्त कर ली है। स्थिरता में ही शरीर अपनी ग्रहणशीलता बढ़ा सकता है और इसे बनाये रखने की शक्ति प्राप्त कर सकता है।

स्थिरता को तमस के साथ न मिलाओ। स्थिरता एक धीर शक्ति, अचंचल तथा सचेतन ऊर्जा, आवेगों तथा अचेतन प्रतिक्रियाओं पर नियंत्रण है। कर्म में यह कुशलता का स्रोत तथा पूर्णता की अनिवार्य शर्त है।

CWM : Vol.14, pp.133-34 — श्रीमाँ

आत्मा की समता

कर्म तथा कर्मफल के प्रति आसक्ति का त्याग मन में तथा आत्मा में चरम समता की ओर एक बृहत् गति का आरम्भ बिन्दु है और यदि हमें आत्मा में परिपूर्ण होना है तब इस आसक्ति के त्याग को सर्वसमाविष्टकारी बनाना होगा। क्योंकि कर्म के स्वामी की आराधना हमारे अन्दर, सभी वस्तुओं के अन्दर और सभी घटनाओं के अन्दर उनकी स्पष्ट मान्यता तथा प्रसन्नचित्त स्वीकृति की मांग करती है। समता इस आराधना की पहचान है। यह आत्मा का वह आधार है जिस पर यज्ञ यानी आत्माहुति और पूजा की जा सकती है। प्रभु समान रूप से सभी सत्ताओं और प्राणियों में उपस्थित हैं। हमें अपने आप में और दूसरों में, ज्ञानी और अज्ञानी में, मित्र और शत्रु में, मनुष्य और पशु में तथा सन्त और पापी में कोई तात्विक अन्तर नहीं रखना है। हमें किसी से घृणा या किसी की उपेक्षा नहीं करनी है, किसी से नाक-भौं नहीं सिकोड़ना है ; क्योंकि सब में हमें छद्म वेश में उस एकम् परमात्मा को ही देखना है जो अपनी इच्छा से सब में अभिव्यक्त हो रहा है। उनकी प्रकृति में वह क्या रूप लेना चाहता है और क्या कार्य करना चाहता है और उस दृष्टि से क्या सर्वोत्तम है इसे ध्यान में रखते हुए वह अपने संकल्प और ज्ञान के अनुसार एक व्यक्ति में कम या दूसरे में अधिक परिमाण में अपने को व्यक्त करता है अथवा अपने को छिपाता और पूर्ण रूप से विकृत कर लेता है। सब कुछ हम स्वयं हैं, एक ही आत्मन् ने विभिन्न आकार ग्रहण कर लिया है। घृणा और अरुचि, तिरस्कार और जुगुसा, चिपकना तथा आसक्ति और प्राथमिकता विकास के एक चरण पर स्वाभाविक, आवश्यक, अपरिहार्य हैं। ये हमारे अन्दर प्रकृति के विकल्प को कायम रखने में मदद करते हैं। किन्तु कर्मयोगी के लिए ये अवशिष्ट हैं, ठोकरें हैं, अज्ञान की प्रक्रिया हैं और जैसे-जैसे वह प्रगति करता है, उसकी प्रकृति से ये झड़ते जाते हैं। अपरिपक्व आत्मा को अपनी प्रगति के लिए इनकी जरूरत होती है किन्तु दिव्य संस्कृति में जो प्रौढ़ हो जाते हैं उनकी प्रकृति में ये चीजें नहीं रहतीं। भागवत प्रकृति में, जिसमें हमें उठना है, कठोरता या दृढ़ता हो सकती है, विनाशकारी कठोरता भी हो सकती है किन्तु घृणा नहीं, एक भागवत व्यंग्योक्ति हो सकती है पर तिरस्कार नहीं। एक स्थिर, स्पष्ट दृष्टि तथा बलपूर्वक इनकार हो सकता है परन्तु जुगुप्सा और अरुचि नहीं। यहाँ तक कि जिसे हम नष्ट भी करना चाहते हों, हमें उससे घृणा नहीं करनी होगी और इस मान्यता से हट नहीं सकते कि वह भी शाश्वत का ही छद्म और अस्थायी रूप है।

और क्योंकि सभी वस्तुएं अपनी अभिव्यक्ति में एक ही आत्मन की अभिव्यक्ति हैं, हम सब कुरूप और सुन्दर, अपंग और सशक्त, उदात्त और अश्लील, प्रिय और अप्रिय, शुभ और अशुभ के प्रति आत्मा की समता बनाये रखेंगे। यहाँ भी कोई घृणा, तिरस्कार और विकर्षण नहीं होगा, बल्कि उसके बदले होगी एक सम दृष्टि जो सब चीजों को उनकी वास्तविक भूमिका तथा नियुक्त स्थान में देखती है। क्योंकि हमलोग देखेंगे या जानेंगे कि सभी वस्तुएं अपनी प्रकृति की यथासंभव तात्कालिक स्थिति या क्रिया या विकास-प्रक्रिया के अनुसार उनके लिए अभीष्ट परिस्थितियों के अधीन व्यक्त होती हैं या छद्मवेश धारण करती हैं, विकसित होती हैं या विकृत होती हैं चाहे जो भी उनमें अनिवारणीय दोष रह जायें। वे चीजों के वर्तमान संकलन की सम्पूर्णता तथा अन्तिम

परिणाम की पूर्णता दोनों के लिए क्रमिक अभिव्यक्ति में भगवान का कुछ न कुछ सत्य या तथ्य, ऊर्जा या अन्तर्निहित अंश अभिव्यक्त करती हैं। उस सत्य को अभिव्यक्ति की ऊपरी प्रतीतियों, त्रुटियों या विकृतियों से अनिवारित या अविचल होकर अल्पकालिक अभिव्यक्ति के पीछे ढूँढ निकालना होगा। तब हम सदा के लिए उसके मुखौटों के पीछे निष्कलंक, शुद्ध, सुन्दर तथा पूर्ण भगवान की आराधना कर सकते हैं। सब कुछ वास्तव में परिवर्तित किया जाना है। कुरूपता को स्वीकार नहीं करना बल्कि भागवत सौन्दर्य को, अपूर्णता को विश्राम स्थल नहीं बनाना बल्कि पूर्णता के प्रयास को, अशुभ को नहीं बल्कि परम शुभ को विश्वव्यापक लक्ष्य बनाना है। परन्तु हम जो भी करें उसे एक आध्यात्मिक विवेक औऱ ज्ञान से करना है। और भागवत शुभ, सौन्दर्य, पूर्णता, आनन्द का ही प्रयास करना है न कि इन चीजों के मानव मानदण्ड का अनुगमन। यदि हममें समता नहीं है तब यह इस बात का संकेत है हमलोग अभी भी अज्ञान के शिकार हैं। हमलोग वास्तव में कुछ नहीं समझेंगे और बहुत सम्भव है कि हमलोग पुरानी अपूर्णता को नष्ट कर एक दूसरी अपूर्णता की सृष्टि कर लें, क्योंकि हमलोग भागवत मूल्यों के स्थान पर अपने मानव मन तथा प्राण को स्थापित कर रहे हैं।

समता का अर्थ एक नया-ताजा अज्ञान या अन्धापन नहीं है। इसके लिए दृष्टि का धुंधलापन और सभी रंगों को मिटाना या छिपाना आवश्यक नहीं है। अन्तर होगा, अभिव्यक्ति की विविधता होगी और इस विविधता को हम महत्व देंगे, — कहीं अधिक न्यायसंगत रूप से अपेक्षाकृत इसके कि जब पक्षपातपूर्ण और भ्रान्त प्रेम और घृणा, प्रशंसा और भर्त्सना, सहानुभूति और वैरभाव, आकर्षण और विकर्षण द्वारा दृष्टि के मेघाच्छन्न होने पर हम महत्व देते। परन्तु विविधता के पीछे हम हमेशा पूर्ण तथा निर्विकार सत्ता को देखेंगे जो इसमें निवास करता है और हम महसूस करेंगे, जानेंगे या कम से कम, यदि यह हमसे छिपा हुआ है, विशिष्ट अभिव्यक्ति की बुद्धिमतापूर्ण प्रयोजन तथा दिव्य आवश्यकता में विश्वास करेंगे चाहे यह हमारे मानवीय मानदण्ड पर सामंजस्यपूर्ण तथा परिपूर्ण या अपरिष्कृत और अधूरा या मिथ्या और अशुभ भी क्यों न प्रतीत हो।

और इसी प्रकार घटनाओं — कष्टदायक या सुखदायक, पराजय तथा सफलता, मान तथा अपमान, नेकनामी तथा बदनामी, सौभाग्य तथा दुर्भाग्य — के प्रति भी मन तथा आत्मा की वही समता बनाये रखेंगे। क्योंकि सभी घटनाओं में हम समस्त कर्म तथा फल के स्वामी का संकल्प और भगवान की विकसनशील अभिव्यक्ति में एक कदम देखेंगे। जिनके पास देखनेवाली आन्तरिक दृष्टि है उनके लिए वह अपने को शक्तियों में और उनकी क्रीड़ा में, साथ-साथ वस्तुओं तथा प्राणियों में अभिव्यक्त करता है। सभी वस्तुएं एक दिव्य परिंणाम की ओर गति करती हैं। प्रत्येक अनुभव — चाहे वह कष्ट औऱ अभाव का हो या हर्ष तथा तृप्ति का — एक वैश्व आन्दोलन के कार्यान्वयन में एक आवश्यक कड़ी है और जिसे समझना तथा उसे आगे बढ़ाना हमलोगों का कर्तव्य है। उसके विरुद्ध विद्रोह करना, उसकी भर्त्सना करना, चीखना - चिल्लाना हमारे अपरिष्कृत तथा अज्ञानी सहज बोध का आवेग है। अन्य प्रत्येक वस्तु के समान क्रीड़ा में, विद्रोह की अपनी उपयोगिताएं हैं और आवश्यक भी हैं और दिव्य विकास के लिए इसके अपने समय तथा चरण पर सहायक तथा निर्धारित भी हैं। किन्तु एक अज्ञानी विद्रोही का आन्दोलन आत्मा का बचपना या इसकी कच्ची प्रौढ़ता है। परिपक्व आत्मा निन्दा नहीं करती बल्कि समझना तथा अधिकृत करना चाहती है, चीखती -चिल्लाती नहीं बल्कि सुधारने और पूर्ण बनाने के लिए श्रम करती है, अन्दर से विद्रोह नहीं करती बल्कि आदेश पालन करने, परिपूरित करने तथा रूपान्तरित करने के लिए परिश्रम करती है। इसलिए हम एक समतापूर्ण आत्मा के साथ स्वामी के हाथों से सभी चीजें ग्रहण करेंगे। हम विफलता को, भागवत विजय की घड़ी आने तक सफलता के समान ही शान्तिपूर्वक एक मार्ग के रूप में स्वीकार करेंगे। यदि भागवत विधान के अनुसार तीव्रतम दुःख और कष्ट भी आ जायें तब हमारी

आत्माएं, मन तथा शरीर डगमगायेंगे नहीं और न अत्यधिक हर्ष व आह्लाद द्वारा अभिभूत ही होंगे। इस प्रकार हम सर्वोच्च सन्तुलन में रहते हुए और एक सम स्थिरता के साथ सभी चीजों का सामना करते हुए दृढ़तापूर्वक अपने मार्ग पर चलते रहेंगे जब तक हम एक उच्चतर स्थिति के लिए तैयार न हो जायें और परम तथा वैश्व आनन्द में प्रवेश न कर सकें।

***

यह समता केवल एक दीर्घकालिक अग्निपरीक्षा तथा धैर्यपूर्ण आत्म संयम द्वारा ही आ सकती है। जब तक कामना सबल है, समता निष्क्रियता तथा कामना की थकान की अवधियों को छोड़ कर बिलकुल नहीं आ सकती। और अधिक सम्भव है कि यह निष्क्रिय उदासीनता हो अथवा कामना की अपने आप से जुगुप्सा हो न कि सकारात्मक आध्यात्मिक एकत्व। इसके अतिरिक्त, इस अनुशासन अथवा आत्मा की समता में इस विकास के अपने आवश्यक काल तथा चरण होते हैं। सामान्यतः हमें सहिष्णुता की एक अवधि से आरम्भ करना होता है, क्योंकि हमें सामना करना, दुःख झेलना, तथा सभी सम्पर्कों को आत्मसात् करना सीखना होता है। हमारे अन्दर के प्रत्येक तन्तु को यह सिखाना होगा कि वह किसी कष्टदायक चीज से भागे नहीं और किसी सुखद औऱ आकर्षक चीज के पीछे दौड़े नहीं। बल्कि स्वीकार करे, सामना करे, सहन करे और जीत ले। हमें इतना सबल होना चाहिये कि हम सभी स्पर्शों को सहन करें न केवल हमारे लिए जो उचित और व्यक्तिगत हैं, बल्कि उन्हें भी जो हमारे चतुर्दिक विश्वों के साथ, ऊपर या नीचे तथा उनके लोगों के साथ हमारी सहानुभूति अथवा हमारे संघर्ष से उत्पन्न होते हैं। हम अपने ऊपर मनुष्यों, चीजों तथा शक्तियों की क्रिया तथा संघात को, देवों के प्रभाव को, असुरों के प्रहार को सहन करेंगे। हम उन सब का सामना करेंगे तथा अपनी आत्मा के प्रशान्त सागरों में उन सबको निमग्न कर लेंगे जो सम्भवतः आत्मा की अनन्त अनुभूति के मार्गों से होकर हमारे पास आयेंगे। यह समता की तैयारी की तितिक्षा की अवधि होती है, सर्वथा प्रारम्भिक, फिर भी वीरोचित काल। परन्तु शरीर, हृदय तथा मन की इस दृढ़ सहनशीलता को भागवत संकल्प के प्रति आध्यात्मिक आत्म निवेदन के अविच्छिन्न बोध के द्वारा अवश्य प्रबलित किया जाना चाहिये। इस जीवन्त मृदा (शरीर) को केवल एक कठोर या साहसिक मौन स्वीकृति के साथ ही नहीं बल्कि ज्ञान या आत्मसमर्पण के साथ, दुःख में भी, भागवत हाथ के स्पर्श के समक्ष, जो इसकी पूर्णता को तैयार कर रहा है, अपने आप को निवेदित करना होगा। एक मनीषी, एक भक्त या भागवत प्रेमी की एक कोमल तितिक्षा भी सम्भव है — और ये मात्र नास्तिक आत्म-निर्भर सहिष्णुता से कहीं अच्छे हैं — जो भगवान के पात्र को अत्यधिक सुदृढ़ बनाने में उपयुक्त हो सकते हैं। क्योंकि इस प्रकार का भक्त ऐसी शक्ति तैयार करता है जो ज्ञान और प्रेम की सामर्थ्य रखती है। इसकी शान्ति में गहरी स्थिरता होती है जो सरलता से आनन्द में मिल जाती है। आत्म त्याग तथा सहिष्णुता की इस अवधि की उपलब्धि है आत्मा की ऐसी शक्ति जो सभी आघातों तथा सम्पर्कों का सामना कर सकती है।

इसके पश्चात एक ऊँचे स्तर की निष्पक्षता तथा उदासीनता की अवधि आती है जिसमें आत्मा उल्लास तथा अवसाद से मुक्त हो जाती है औऱ हर्ष की उत्सुकता के फन्दे और दुःख औऱ कष्ट की टीस के काले जाल से त्राण पा लेती है। सभी चीजें, सभी व्यक्ति औऱ शक्तियाँ, सभी विचार तथा भावनाएं, संवेदनाएं तथा क्रियाएं, अपनी औऱ दूसरों की भी, ऊपर से एक आत्मा के द्वारा ध्यान में रखी जाती हैं जो पूर्ण और अपरिवर्तनीय है औऱ इन चीजों से विक्षुब्ध नहीं होती। यह समता की तैयारी की दार्शनिक अवधि है, एक बृहत् तथा महान गति। परन्तु उदासीनता को कर्मशीलता तथा अनुभूति से हटकर एक निष्क्रिय पलायन में स्थित नहीं हो जाना चाहिये।

इसे क्लान्ति, घृणा तथा अरुचि से उत्पन्न अनिच्छा में, निराश अथवा अतृप्त कामना के कारण जगुप्सा में तथा अपने आवेगपूर्ण उद्देश्यों से पीछे धकिया दिये जाने पर विफल तथा असन्तुष्ट अहंकार की विषण्णता में नहीं बदलने दिया जाना चाहिये। ये प्रतिकूल अवस्थाएं अनिवार्य रूप से अपरिपक्व आत्मा में आती हैं औऱ किसी रूप में उत्सुक कामना-प्रेरित प्राणिक प्रकृति के हतोत्साह के द्वारा प्रगति में मदद कर सकती हैं, परन्तु वे पूर्णता नहीं है जिसकी सिद्धि की ओर हमलोग परिश्रम कर रहे हैं। जो उदासीनता अथवा तटस्थता हम प्राप्त करना चाहते हैं वह चीजों के सम्पर्कों से परे उच्चासीन आत्मा की श्रेष्ठता है। यह उन्हें स्वीकार करती या इनकार करती है परन्तु इनकार में विचलित नहीं होती, न स्वीकृति द्वारा प्रभावित। यह नीरव-निष्क्रिय पुरुष तथा स्वयं आत्मन के साथ अपने को निकट, सदृश तथा तदात्म औऱ प्रकृति की कार्य प्रणालियों से पृथक् होना महसूस करने लगती है। उच्च परात्परता की इस अवधि की उपलब्धि है आत्मा की शान्ति जो जगत की सुखद लहरों अथवा तूफानी तरंगों से विचलित नहीं होती।

यदि हम आन्तरिक परिवर्तन के इन दोनों चरणों में से, किसी एक में बिना रुके हुए, अबाधित, निकल सकें तब हम एक महत्तर दिव्य समता में नामांकित या स्वीकृत हो जाते हैं, जो एक आध्यात्मिक उत्साह तथा आनन्द के प्रशान्त आवेग को वहन करने में समर्थ है — एक हर्षोन्मत, सम्पूरित आत्मा की सर्वज्ञानी तथा सर्वाधिकारी समता। यह सर्वोच्च अवधि है तथा यहाँ तक पहुँचने का मार्ग भगवान तथा वैश्व माता के प्रति सम्पूर्ण समर्पण से प्राप्त होनेवाले आनन्द से होकर जाता है। क्योंकि तब सामर्थ्य सर्वोच्च अधिकार से परिपूर्ण हो जाती है। शान्ति परमानन्द में डूब जाती है। दिव्य स्थिरता का अधिकार उन्नत हो जाता है तथा उसे दिव्य गति के अधिकार के लिए आधार बना दिया जाता है। परन्तु यदि इस महत्तर पूर्णता को प्राप्त करना है तब आत्मा की तटस्थ पदासीनता को जो ऊपर से रूपों तथा व्यक्तित्वों तथा गतिविधियों को, शक्तियों के निरन्तर प्रवाह को नीचे देखती रहती है, सुधारना होगा तथा एक सुदृढ़ तथा स्थिर निवेदन औऱ शक्तिशाली तथा गहन आत्म समर्पण के एक नये बोध में परिवर्तित करना होगा। यह आत्म निवेदन अब औऱ अधिक उदासीन मौन सहमति न होकर एक प्रसन्न चित्त स्वीकृति होगी, क्योंकि अब दुःख अथवा बोझ या क्रूस वहन का बोध न होगा। प्रेम, आनन्द तथा आत्मदान का हर्ष इसके देदीप्यमान ताना-बाना होंगे। और यह आत्म समर्पण केवल भागवत संकल्प ही न होगा जिसे हम देखते, स्वीकार करते तथा जिसका आज्ञा पालन करते हैं, बल्कि संकल्प में एक दिव्य ज्ञान होगा — जिसे हम मान्यता देते हैं — और इसमें एक दिव्य प्रेम — जिसे हम महसूस करते तथा जिसके आनन्ददातिरेक को झेलते हैं — परम पुरुष तथा हम सब की आत्मा की प्रज्ञा और प्रेम जिसके द्वारा हम एक सुखद तथा पूर्ण एकता उपलब्ध कर सकते हैं। मनीषी की दार्शनिक समता की पराकाष्ठा है एक मात्र शक्ति, शान्ति तथा निश्चेष्टता परन्तु आत्मा अपनी समग्र अनुभूति में इस आत्म-सृजित स्थिति से अपने को मुक्त कर लेती है और शाश्वत के अनादि अनन्त आनन्द के सर्व समाविष्टकारी चरम हर्षातिरेक के सागर में प्रवेश करती है। तब अन्ततः हमसब एक आनन्ददायक समता के साथ सभी सम्पर्कों को ग्रहण करने में सक्षम हो जाते हैं, क्योंकि हम उनमें शाश्वत प्रेम तथा आनन्द का स्पर्श, एक परम प्रसन्नता अनुभव करते हैं जो वस्तुओं के मर्म में हमेशा छिपी रहती है। एक विश्वव्यापी तथा समतापूर्ण हर्षातिरेक में इस पराकाष्ठा की उपलब्धि है आत्मा का आनन्द तथा परमानन्द का अनावरण जो अनन्त है, वह हर्ष जो समस्त बुद्धि से परे है।

CWSA : Vol. 23, part I (Synthesis of Yoga), pp. 223-228 — श्रीअरविन्द

आत्मा की मुक्ति का योग

अन्ततः हुई प्राप्त एक सुदृढ़ आध्यात्मिक भव्यता,
शाश्वत के राज्य में एक सतत आवास,
एक सुरक्षा निश्चल-नीरवता में और किरण-ज्योति में,
निर्विकार में एक निवास।

सत्ता की उसकी ऊँचाइयाँ निश्चल आत्मन में रहतीं
कर सकता विश्राम मानस उसका एक शीर्षस्थ तल पर
औ' दृष्टिपात प्रतिकृतियों व क्रीड़ा पर नीचे
जहाँ स्थित है ईश्वर-बालक गोद में निशा की और उषा की
और अकाल करता धारण छद्मवेश काल का।

शान्त ऊँचाइयों और अशान्त गहराइयों को
समतापूर्ण आत्मा ने उसकी दी अपनी बृहत् अनुमति :
एक भव्य प्रशान्ति ने अचल शक्ति की
एक विशाल अविचलित अवलोकन ने काल की हलचल पर
समस्त अनुभव का किया सामना अपरिवर्तित शान्ति के साथ।
उदासीन हर्ष और विषाद से,
अनाकृष्ट चमत्कार और पुकार से
अचल, देखा इसने वस्तुओं के प्रवाह को
स्थिर और पृथक् होकर दिया अवलम्ब सब को
की मदद उसकी आत्मा की शान्ति ने श्रमरत संसार की

सावित्री पृ. ३६ (The Yoga of the Soul's Release) — श्रीअरविन्द

प्राणिक सत्ता की महिमा और अधोगति

उसके लिए जो मुक्त समतापूर्ण हृदय से करता है सेवा
आज्ञा पालन है उसका राजसी प्रशिक्षण का विद्यालय
उसकी उदारता की किरीटिका व विशेषाधिकार
उसकी श्रद्धा है एक उच्च प्रकृति का वाक्-व्यवहार
उसकी सेवा है एक आध्यात्मिक साम्राज्य

सावित्री, पृ. १२५ (The glory and fall of Life) — श्रीअरविन्द

मानस के आत्मन में

अन्ततः आया एक अनावृत उदासीन गगन
जहाँ निश्चल-नीरवता करती श्रवण वैश्व वाणी,
पर देती नहीं कुछ उत्तर लक्ष-लक्ष पुकारों का ;
आत्मा के अनन्त प्रश्न को मिली नहीं प्रतिक्रिया कुछ।

एक सहसा उपसंहार ने कर दिया अन्त उत्सुक आशाओं का,
एक गहन विराम एक शक्तिशाली शान्त स्थिरता में,
विचार के अन्तिम पृष्ठ पर एक समाप्ति - रेखा
और निःशब्द शान्ति का एक हाशिया औ' एक रिक्त स्थान।
रुक गई वहाँ जगतों की आरोही श्रेणीबद्ध सोपानिकी।

खड़ा हुआ वह एक विस्तृत चाप पर शीर्ष अन्तराल के
एकाकी, मानस के एक बृहत आत्मन के संग
जो किये था धारण समस्त जीवन को अपनी असीमताओं के एक कोने में।
सर्वशक्तिमान, अचल औऱ पृथक्,
जगत में, जो उत्पन्न हुआ इससे, इसने भाग नहीं लिया
ध्यान दिया नहीं इसने विजय के उल्लास गान पर,
अपनी पराजयों में भी था यह तटस्थ,
वेदना का सुना क्रन्दन पर कुछ नहीं किया संकेत,
शुभ और अशुभ पर पड़ी नजर इसकी एक सम
देखा विनाश है आ गया, पर यह रहा अविचल।

चीजों का एक समतापूर्ण कारण, एक एकाकी द्रष्टा
और प्रभु अपने असंख्य रूपों का,
यह करता नहीं कर्म पर सभी विचारों-कर्मों को देता जन्म
प्रकृति की अनन्त क्रियाओं का साक्षी प्रभु
उसकी शक्ति की गतिविधियों को देता स्वीकृति

उसका मानस इस बृहत् नैष्कर्म्य पर करने लगा विचार,
यह साक्षी निस्तब्धता मनीषी का है गुप्त आधार,
नीरव गहराइयों में छिपा शब्द लेता है आकार,
छिपी नीरवताओं से जन्म लेता है कर्म,

वाणी से परिपूर्ण मानस में, श्रमरत जगत में;
गोपनीयता में आच्छादित होता है बीज शाश्वत बोता जिसे,
नीरवता है जन्म स्थल आत्मा का।

सावित्री पृ.२८३ (In the self of mind) — श्री अरविन्द

भगवान

तुम निम्न सर्व जगतों में हो व्याप्त विराजमान,
फिर भी ऊपर आसीन ;
सब के प्रभु, करते हो कर्म, शासन, रखते हो ज्ञान,
सेवक प्रेम के अधीन।

तुझे है न घृणा बनने में कीट अधम,
औऱ न हो जाने में मृदा, - पाषाण ;
इसीलिए जानते तेरी इस दीनता से हम,
कि तू है भगवान, सर्वशक्तिमान ।

कलेक्टेड पोएम्स पृ. ६३, ('गाड' कविता का भावानुवाद) — श्रीअरविन्द

नियति का निर्णय और पीड़ा का प्रश्न

कठिन है गुरु, निर्दिष्ट कर्म जगत के मुक्तिदाता का ;
स्वयं जगत बन जाता है शत्रु उसका,
वे ही उसके शत्रु हैं, जिन्हें बचाने आया वह।

जिनकी करेगा रक्षा वह, हैं वे प्रतिरोधी उसके :
जगत यह प्रेमी है अपने ही अज्ञान का,
अन्धकार इसका हो जाता है विमुख परित्राता प्रकाश से,
देता है यह क्रूस मुकुट के मूल्य में।

कर्म उसका भव्यता की टपक है बून्द की, दीर्घ निशा में ;
काल की लम्बी यात्रा में देखता वह नगण्य विजय ;
कुछेक की रक्षा होती है, शेष करते हैं प्रयास विफल,
एक सूरज गुजर गया, रात की छाया गिरी धरा पर।
हाँ, प्रभु के सूर्य-निकट मार्ग सुखद हैं ;

पर कितने हैं पग रख सकते जो, सूर्यालोकित पथ पर ;
केवल वे ही चल सकते प्रकाश में, जो विशुद्ध हैं आत्मा से।

है बहिर्द्वार, कठिन पलायन का पथ
शोक से, अन्धकार से, बन्धन से मुक्ति का ;
पर कैसे कर देंगे कुछ पलायनवादी मुक्त, जगत को ?
मानव समुदाय लड़खड़ाता जूए के नीचे।

पलायन हो कितना भी ऊँचा जीवन को करता नहीं मुक्त
जीवन जो छूट गया पीछे एक अधोगत वसुधा पर।
पलायन उठा सकता नहीं, परित्यक्त मानव जाति को
अथवा ला सकता नहीं विजय औ' प्रभु का राज्य यहाँ।
यद्यपि बढ़ता है प्रकाश धरा पर, घटती है निशा
फिर भी, जब तक होता नहीं अन्त अशुभ का इसके अपने गृह में
औ' प्रकाश, जगत के निश्चेतन गढ़ में करता नहीं आक्रमण
औ' नष्ट नहीं हो जाती विरोधी शक्ति
करना होगा श्रम उसे, है अधूरा उसका कर्म।

फिर भी वह आ सकता है कवचित, अपराजेय ;
उसका संकल्प अटल, परिवर्तनशील क्षण का करता है सामना ;
आघात जगत के झुका सकते नहीं विजेता-मस्तक ;
सुनिश्चित-स्थिर हैं उसके कदम घनीभूत होती निशा में ;
लक्ष्य पीछे हटता जाता दूर, वह अपना कदम करता नहीं तेज
वह निशा के ऊँचे स्वरों पर देता नहीं ध्यान।

वह अवर देवों से मांगना नहीं सहाय ;
उसके नेत्र टिके हैं अपरिवर्तनीय लक्ष्य पर।

हो जाता मनुज विमुख या चुनता मार्ग सरल ;
जो ऊँचे कठिन मार्ग पर एक, रहता अटल अडिग
वही अकेला कर सकता आरोहण शाश्वत के शिखरों पर ;
अनिर्वचनीय लोक कर चुके हैं अनुभव पहले ही पदचाप उसके ;
धरा-स्वर्ग को बना लिया है उसने अपना यन्त्र
पर धरा-स्वर्ग की सीमाएं टूटती हैं उससे ;
उनके विधान का करता है अतिक्रमण वह, पर बनाता है साधन अपना।
उसने है किया अधिकृत जीवन के हाथ, अपने हृदय पर प्रभुत्व।
चालें प्रकृति की उसकी दृष्टि को करतीं नहीं गुमराह,

अटल है उसकी निगाह सत्य के सुदूर छोर पर ;
नियति का बधिर विरोध कर नहीं सकता भंजन उसका संकल्प।

विकराल पथों पर, घातक मार्गों में,
अभेद्य है उसकी आत्मा, अबध्य उसका हृदय,
जीवित है वह शक्तियों के विरोध पर धरती की
प्रकृति के घातों और जगत के आघातों में।

उसकी आत्मा की महिमा करती अतिक्रमण पीड़ा औऱ आनन्द का
शान्ति औऱ समता के साथ करता वह सामना शुभ औऱ अशुभ का।

सावित्री पृ. ४४८-४९, (The Way of Fate and the Problem of Pain) — श्री अरविन्द

समता की पूर्णता : भाग-१

आध्यात्मिक पूर्णता के लिए पहली ही आवश्यकता है एक पूर्ण समता। पूर्णता का अर्थ है जैसा कि हम योग में प्रयुक्त करते हैं, निम्न अदिव्य प्रकृति से उच्चतर दिव्य या भागवत प्रकृति में संवर्धन। ज्ञान के अर्थ में यह सत्ता के उच्चतर स्वरूप का धारण तथा इसके अधिक कलुषित, खण्डित, निम्न स्वरूप का बहिष्कार है अथवा हमारी अपनी अपूर्ण अवस्था का हमारे वास्तविक तथा आध्यात्मिक व्यक्तित्व की ज्योतिर्मय पूर्णता में रूपान्तरण है। भक्ति तथा आराधना के अर्थ में यह भागवत पुरुष के स्वभाव या विधान की एकरूपता में संवर्धन है, उसके साथ एकरूप हो जाना है जिसकी हम अभीप्सा करते हैं, क्योंकि यदि यह एकरूपता नहीं आती, भागवत सत्ता के विधान के साथ एकत्व नहीं प्राप्त होता तब उस विश्वातीत तथा वैश्व सत्ता और इस वैयक्तिक आत्मा के बीच एकता सम्भव नहीं है। परम दिव्य प्रकृति समता पर संस्थापित या आधारित है। यह स्वीकारोक्ति अपने आप में सत्य है चाहे हम परम सत्ता को एक शुद्ध नीरव आत्मन मानें या वैश्व अस्तित्व के दिव्य स्वामी के रूप में स्वीकार करें। विशुद्ध आत्मन वैश्व अस्तित्व की सभी घटनाओं तथा सम्बन्धों की एक तटस्थ शान्ति में समचित्त, अचल, साक्षी बना रहता है। यह उनके प्रतिकूल नहीं है - प्रतिकूलता समता नहीं है। यदि आत्मन की वैश्व अस्तित्व के प्रति ऐसी मनोवृति होती तब यह विश्व, अस्तित्व में नहीं आता या घटना चक्रों के साथ आगे नहीं बढ़ता। एक अनासक्ति, समभाव की स्थिरता, कष्टकारक प्रतिक्रियाओं तथा बाहरी प्रकृति में लिप्त आत्मा की विकलांग करनेवाली कमजोरियों से परे वरिष्ठता ही नीरव अनन्त की विशुद्धता के तत्व, इसकी तटस्थ सहमति की शर्त और विश्व की बहुपक्षीय गति के अवलम्ब हैं। लेकिन परम की उस शक्ति में भी जो इन गतियों को शासित और विकसित करती है, वही समता एक आधारभूत स्थिति भी है।

वस्तुओं का स्वामी वस्तुओं की प्रतिक्रियाओं से प्रभावित नहीं हो सकता। यदि वह प्रभावित हो जाता तब वह स्वामी नहीं बल्कि उनका दास हो जाता ; अपने सर्वोच्च संकल्प, ज्ञान, आन्तरिक सत्य तथा आवश्यकता के अनुसार उन्हें विकसित करने के लिए स्वतन्त्र नहीं रहता बल्कि तात्कालिक घटनाओं की मांग के अनुसार क्रिया करने को विवश हो जाता। वस्तुओं का सत्य उनकी गहराइयों की शान्ति में रहता है न कि सतह पर की हर क्षण बदलती तरंगित आकृति में। परम सचेतन पुरुष अपने दिव्य ज्ञान, संकल्प तथा प्रेम में इन्हीं गहराइयों से उनके क्रमविकास का नियमन करता है औऱ सतही कोलाहल द्वारा दुःखी नहीं होता यद्यपि हम अपने अज्ञान में उसे प्रायः एक निर्दयतापूर्ण भ्रान्ति तथा उन्माद समझ बैठते हैं। भागवत प्रकृति हमारी भटकनों तथा आवेगों में हाथ नहीं बटाँती। जब हम भागवत क्रोध या मेहरबानी अथवा मानव के रूप में भगवान के पीड़ा-सहन की बात करते हैं तब हम मानवीय भाषा का प्रयोग कर रहे होते हैं जो उस गति के आन्तरिक महत्व का, जिसकी विशेषता हम बताते हैं, अशुद्ध भाषान्तरण है। हम उनके वास्तविक सत्य को तब देख पाते हैं जब सतही मन से ऊपर उठकर आध्यात्मिक सत्ता की ऊँचाइयों में प्रवेश करते हैं। तब हम देखते हैं कि भगवान, चाहे वह अपनी नीरवता में निवास करता हो या अपनी वैश्व-क्रिया में व्यस्त हो, हमेशा अपनी समस्त सृष्टि में सच्चिदानन्द, एक अनन्त सत्, एक अनन्त चित् तथा सचेतन सत्ता की आत्म-संस्थापित शक्ति, एक अनन्त आनन्द बना रहता है। हमलोग स्वयं एक सम ज्योति, बल, आनन्द में निवास करना आरम्भ करने लगते हैं — भागवत ज्ञान, संकल्प तथा आनन्द के अपने तथा वस्तुओं के अन्दर मनोवैज्ञानिक प्रतिदान में, जो उन अनन्त स्रोतों से प्रवाहित सक्रिय वैश्व - भावोद्गार होते हैं। उस ज्योति, शक्ति तथा आनन्द के बल पर हमारे

अन्दर की एक गुह्य सत्ता तथा आत्मा हमेशा जीवन की मानसिक प्रतिलिपि के द्वैत अक्षरों को स्वीकार करती तथा अपनी पूर्ण अनुभूति में रूपान्तरित करती है। और यदि हमारे अन्दर अभी भी वह प्रच्छन्न बृहत्तर अस्तित्व न होता, तब हम वैश्व शक्ति के दबाव को सहन न कर पाते या इस बृहत् तथा संकटपूर्ण जगत में टिक न पाते। हमारी आत्मा तथा प्रकृति की एक पूर्ण समता एक ऐसा साधन है जिसके द्वारा हम कष्टदायक तथा अज्ञानजनित बाहरी चेतना से पीछे हटकर स्वर्ग के आन्तरिक राज्य में प्रवेश कर सकते हैं तथा आत्मा के शाश्वत साम्राज्यों, महानता, आनन्द तथा शान्ति के 'राज्यम् समृद्धम्' के अधिकारी बन सकते हैं। भागवत प्रकृति में आत्मोत्थान समता अनुशासन का सम्पूर्ण परिणाम तथा सम्पूर्ण सुयोग है जिसकी हम सब से, योग में आत्म पूर्णता के लक्ष्य से मांग की जाती है।

आत्मा की एक पूर्ण समता तथा शान्ति हमारी सत्ता के सम्पूर्ण द्रव्य को इसकी कष्टमय मानसिकता के वर्तमान उपादान से आत्मा के तत्व में परिवर्तित करने के लिए अपरिहार्य है। यदि हम अपनी वर्तमान भ्रान्तिपूर्ण तथा अज्ञानजनित क्रिया के स्थान पर वैश्वसत्ता के साथ सुसंगत और अपनी प्रकृति को शासित करनेवाली मुक्त आत्मा के प्रशान्त तथा ज्योतिर्मय कार्यों को संस्थापित करना चाहते हैं तब भी यह समता और शान्ति उतना ही अनिवार्य है। एक भागवत कर्म या एक पूर्ण मानव कर्म भी असंभव है यदि हमलोगों ने आत्मा की समता तथा अपनी प्रकृति की प्रेरक शक्तियों में समता प्राप्त नहीं की है। भगवान सब के प्रति सम-भाव रहते हैं, अपने विश्व के तटस्थ पालक-पोषक हैं जो सबको समान दृष्टि से देखते हैं, विकसनशील सत्ता के विधान से सहमत होते हैं जिसे अपनी सत्ता की गहराइयों से उत्पन्न किया है, जो सहने योग्य है उसे सहन करते हैं, जिसका दमन करना है उसे दबाते हैं, जिसे उठाना है उसे उठाते हैं, सृजन करते हैं, धारण करते हैं तथा समस्त कारणों, परिणामों तथा सभी घटनाओं के आध्यात्मिक तथा व्यावहारिक अर्थ को ध्यान में रखते हुए एक सम्पूर्ण तथा समान बोध के साथ नष्ट या संहार करते हैं। भगवान कामना के व्यथित आवेग के वशीभूत होकर सृजन नहीं करते अथवा पक्षपातपूर्ण पसन्द के प्रति आसक्ति के कारण भरण-पोषण नहीं करते तथा संरक्षण नहीं देते हैं अथवा क्रोधावेश, घृणा या विमुखता के कारण नष्ट नहीं करते हैं। भगवान बड़े और छोटे, उचित तथा अनुचित, ज्ञानी तथा अज्ञानी के साथ आत्मन के समान व्यवहार करते हैं, जो सत्ता के साथ अत्यन्त घनिष्ठ तथा तदात्म होकर सब की प्रकृति तथा जरूरत के मुताविक पूर्ण विवेक, शक्ति तथा उचित अनुपात के अनुसार सब को राह दिखाता है। परन्तु इन सब के माध्यम से वे काल-चक्रों में अपने विशाल लक्ष्य के अनुसार घटनाओं को मोड़ देते हैं तथा क्रमविकास में, प्रतीयमान प्रगति व अधोगति से होते हुए उच्चतर तथा सर्वदा उच्चतर विकास की ओर आत्मा को ऊपर उठाते हैं जो वैश्व प्रेरणा का अभिप्राय होता है। आत्मपूर्णता की अभीप्सा करनेवाले व्यक्ति को, जो भगवान के साथ उनके संकल्प में तदात्म होना तथा भागवत उद्देश्य के लिए अपनी प्रकृति को यन्त्र बनाना चाहते हैं, मानवीय अज्ञान के अहंकारात्मक और आंशिक दृष्टिकोणों तथा प्रयोजनों की सीमा से बाहर होकर अपने को विशाल बनाना होगा तथा इस परम समता की छवि में अपने को ढालना होगा। व्यवहार में यह समता का भाव समग्र योग के साधक के लिए विशेष रूप से आवश्यक है। सबसे पहले उसे एक ऐसी तटस्थता तथा विवेकशीलता प्राप्त करनी होगी जो दिव्य क्रिया के विधान को इस पर किसी व्यक्तिगत अभीप्सा के पक्षपात-पूर्ण संकल्प तथा उग्र दावा आरोपित करने की कोशिश किये बिना, प्रत्युत्तर दे। एक विवेकशील निर्वैयक्तिकता, एक निश्चल समता, एक विश्वव्यापकता — जो समस्त वस्तुओं को भगवान की, एक मात्र अस्तित्व की अभिव्यक्ति के रूप में देखती है, जो वस्तुओं की यथास्थिति को देख कर क्रोधित, क्षुब्ध या अधीर नहीं होती अथवा दूसरी ओर न उत्तेजित, अति उत्सुक और उतावला ही होती है बल्कि यह देखती है कि विधान का पालन अवश्य होना चाहिये, तथा समय की गति का आदर होना चाहिये ; जो निरीक्षण करती है तथा

सहानुभूतिपूर्वक वस्तुओं तथा सत्ताओं की वास्तविकता को समझती है किन्तु वर्तमान् आभासों के पीछे उनके आन्तरिक महत्वों को तथा आगे आनेवाली उनकी भागवत सम्भावनाओं के प्रकटन को भी देखती है — प्रथम वस्तु है जिसकी उन सब से मांग की जाती है जो भगवान के आदर्श यन्त्रों के रूप में कर्म करेंगे। परन्तु यह निर्वैयक्तिक अचलता केवल आधार है। मनुष्य एक ऐसे क्रमविकास का यन्त्र है जो पहले संघर्ष का मुखौटा पहने होता है, किन्तु एक सतत विवेकपूर्ण सामंजस्य के अपने अधिक सत्य तथा अधिक गहन अर्थ में अधिक से अधिक वर्धित होता जाता है तथा आरोही क्रम में निश्चय ही एक वैश्व सामंजस्य के गहनतम सत्य तथा महत्व को प्राप्त कर लेता है। पूर्णता प्राप्त मानव आत्मा को इस क्रमविकास की प्रक्रियाओं को तेज करने के लिए हमेशा यन्त्र बनना होगा। इसके लिए प्रकृति में चाहे कितनी भी मात्रा में भागवत संकल्प के राजदत्त अधिकार के साथ कार्य करती एक दिव्य शक्ति अवश्य मौजूद होनी चाहिये। परन्तु निष्णात तथा स्थायी, क्रियाशीलता में दृढ़निश्चय, सचमुच दिव्य होने के लिए इसे एक आध्यात्मिक समता के, सभी सत्ताओं के साथ एक स्थिर निर्वैयक्तिक तथा समतापूर्ण तादात्म्य के, तथा सभी ऊर्जाओं के ज्ञान के आधार पर आगे बढ़ना होगा। भगवान विश्व की असंख्य कार्यप्रणालियों में एक महान शक्ति के साथ क्रिया करते हैं परन्तु अक्षुब्ध एकत्व, स्वाधीनता तथा शान्ति की ज्योति तथा शक्ति के अवलम्ब के साथ। आदर्श या पूर्णता प्राप्त आत्मा के दिव्य कर्मों को इसी कोटि का होना चाहिये। और समता ही सत्ता की वह शर्त है जो क्रिया में इस परिवर्तित भावना को संभव बनाती है।

The Synthesis of Yoga : pp. 698-701 — श्रीअरविन्द

समता की पूर्णता : भाग - २

किन्तु एक मानवीय पूर्णता भी समता को छोड़ नहीं सकती क्योंकि यह इसके मुख्य तत्वों में से एक है और यहाँ तक कि यह इसका आवश्यक वातावरण भी है। मानवीय पूर्णता के लक्ष्य में, यदि इसे अपने नाम के अनुरूप बनना है, तब, दो चीजें सम्मिलित होनी चाहिये — आत्मप्रभुता तथा परिवेश पर आधिपत्य। इसे इन शक्तियों को उच्चतम सीमा तक प्राप्त करना होगा जो मानव प्रकृति द्वारा बिलकुल सम्भव है। आत्मसिद्धि की मानव प्रवृति प्राचीन भाषा में होनी चाहिये, ***स्वराट*** तथा ***सम्राट*** - आत्म शासक तथा अधिपति। परन्तु आत्म शासक होना व्यक्ति के लिए तब तक सम्भव नहीं हो सकता जब तक वह निम्न प्रकृति के आक्रमण का शिकार बना रहता है, जब तक वह शोक व हर्ष के उपद्रव का, सुख-दुःख के उग्र स्पर्शों का, अपनी भावनाओं और आवेगों के हंगामों का, व्यक्तिगत रुचियों - अरुचियों के बन्धन का, कामना और आसक्ति की मजबूत शृंखलाओं का, व्यक्तिगत भावनात्मक औऱ पक्षपातपूर्ण निर्णयों तथा रायों का, अपने अहंकार तथा विचार, भावना और क्रिया पर इसके आग्रह के सभी हजारों संत्रासों का आघात झेलता रहता है। ये सब चीजें निम्न सत्ता की दासता हैं जिन्हें मनुष्य में स्थित महत्तर 'मैं' को अपने पैरों के नीचे रखना होगा यदि वह अपनी प्रकृति का अधिपति बनना चाहता है। उन्हें अपने नियन्त्रण में रखना आत्म शासन की शर्त है। किन्तु उस विजय की, पुनः, समता ही शर्त है तथा गतिशीलता का सार है। इन सब चीजों से बिलकुल मुक्त होने के लिए, यदि सम्भव हो या कम से कम, उनका शासक तथा उनसे श्रेष्ठ बनने के लिए समता ही साधन है। तत्पश्चात्, जो व्यक्ति अपने आप पर नियन्त्रण नहीं रख सकता, वह कभी भी अपने परिवेश पर भी नियन्त्रण नहीं रख सकता। जिस ज्ञान, संकल्प, सामंजस्य की इस बाह्य प्रभुता के लिए आवश्यकता पड़ती है वे केवल आन्तरिक विजय से ही आ सकते हैं। ये विशिष्टताएं धीर-स्थिरचित्त आत्मा और मन की होती हैं जो निष्काम समता के साथ सत्यं ऋतं बृहत् का पालन करती हैं औऱ सिर्फ इन्हीं के द्वारा यह प्रभुता सम्भव हो सकती है। यह नियम हमारी वास्तविक मानव-मानसिकता के स्तर पर भी सत्य है जहाँ हम केवल सीमित पूर्णता प्राप्त कर सकते हैं। किन्तु योग का आदर्श स्वराज्य तथा साम्राज्य के इस लक्ष्य को ग्रहण कर मानव सत्ता के बृहत्तर आध्यात्मिक आधार पर स्थित कर देता है। वहाँ यह इसकी पूरी शक्ति ग्रहण करता है औऱ आत्मन् के दिव्यतर स्तरों के प्रति उद्घाटित होता है, क्योंकि अनन्त के साथ एकत्व तथा सान्त वस्तुओं पर क्रियाशील आध्यात्मिक शक्ति द्वारा ही हमारी सत्ता तथा प्रकृति की कुछ उच्चतम समग्र पूर्णता को अपना स्वाभाविक आधार प्राप्त होता है।

एक पूर्ण समता न केवल आत्मन की सिद्धि बल्कि प्रकृति में भी आत्मसिद्धि योग की एक शर्त है। इसकी ओर पहला स्पष्ट कदम होगा हमारी भावनात्मक तथा प्राणिक सत्ता पर विजय क्योंकि यहीं पर भारी से भारी परेशानियों की जड़ें हैं, यहीं असमता औऱ अधीनता की अनियन्त्रित शक्तियों तथा हमारी अपूर्णता के सर्वाधिक हठपूर्ण दावे का गढ़ है। हमारी प्रकृति के इन भागों की समता शुद्धीकरण तथा मुक्ति से आती है। हम कह सकते हैं कि समता ही मुक्ति की पहचान है। प्राणिक कामना की प्रेरणा की अधीनता तथा आवेगों के द्वारा आत्मा पर प्रचण्ड प्रभुत्व से मुक्ति का अर्थ है एक स्थिर तथा समतापूर्ण हृदय औऱ एक जीवन-सिद्धान्त जिस पर वैश्व आत्मा की बृहत् औऱ समान दृष्टि शासन करती है। कामना प्राण की अशुद्धता है, इसकी जीवन-शैली है औऱ इसके बन्धन की शृंखला है। एक मुक्त प्राण का अर्थ है एक सन्तुष्ट और प्रसन्नचित्त प्राण-आत्मा (desire soul) जो बाह्य वस्तुओं के साथ सम्पर्क का सामना कामनारहित हो कर करती है तथा एक समतापूर्ण प्रतिक्रिया के साथ उन्हें ग्रहण करती है। पसन्द - नापसन्द की दोहरी दास-प्रवृति से मुक्ति पाकर औऱ ऊपर उठ कर, सुख-दुःख की प्रेरणाओं के प्रति तटस्थ, सुखद या प्रिय द्वारा उत्तेजित तथा दुःखद या अप्रिय परिस्थितियों द्वारा क्षुब्ध हुए

बिना, प्राथमिकताओं के प्रति आसक्ति तथा प्रतिकूलता के प्रति हिंसात्मक विकर्षण से अप्रभावित हो कर यह प्राण-आत्मा अनुभूति के महत्तर मूल्यों के प्रति उद्घाटित होगी। संसार की ओर से जो भी चीज इसके पास आती है, संकट के साथ या याचना के साथ, उसे यह उच्चतर सिद्धांतों की ओर प्रेषित कर देगी — विवेक तथा हृदय को —— जो आत्मा की ज्योति तथा स्थिर आनन्द के सम्पर्क में हैं या इनके द्वारा रूपान्तरित हो चुके हैं। इस प्रकार शान्त हो कर, आत्मन के द्वारा नियंत्रित, हमारे अन्दर गहनतर तथा परिष्कृत आत्मा पर अब और अपना प्रभुत्व आरोपित करने का प्रयास न करनेवाली यह प्राण-आत्मा स्वयं ही दिव्य या अध्यात्मीकृत बन जायेगी तथा चीजों के साथ दिव्यतर रूप से निपटने में आत्मन या पुरुष का निर्मल तथा उदात्त यन्त्र बन कर कार्य करेगी। यहाँ प्राण के आवेग तथा इसकी स्वाभाविक उपयोगिताओं औऱ गतिविधियों को संन्यासियों की भांति कठिन आत्मसंयम के द्वारा मारने का प्रश्न नहीं है। इन्हें मारने की नहीं बल्कि इनके रूपान्तर की मांग की जाती है। प्राण का कार्य आनन्द है किन्तु सत्ता का सच्चा आनन्द आभ्यान्तरिक आध्यात्मिक आनन्द है, न कि हमारे प्राणिक, भावनात्मक या मानसिक सुख की तरह आंशिक औऱ क्षुब्ध। वह विश्वव्यापक, गहन, आध्यात्मिक आनन्दातिरेक का एक घनीभूत संकेन्द्रन है। अधिकृत करना इसका कार्य है। अधिकार द्वारा चीजों में आत्मा का आनन्द आता है किन्तु वह सच्चा अधिकार है, एक बृहत् औऱ आन्तरिक वस्तु, जो बाह्य चीजों के अभिग्रहण पर निर्भर नहीं करता, जो अधिकृत चीजों का हमें गुलाम बना देता है। अहंकारात्मक अधिकार को, भगवान, प्राणियों तथा संसार पर अहंकार के दावे के अर्थ में चीजों को अपना बनाने के विचार को, ***परिग्रह*** को इसलिए त्यागना होगा ताकि यह महत्तर वस्तु, यह बृहत्, विश्वव्यापक तथा परिपूर्ण जीवन स्थापित हो सके। ***त्यक्तेन भुंजीथा***, कामना तथा अधिकार के अहंकारात्मक बोध के त्याग द्वारा आत्मा अपने आप में तथा विश्व में दिव्यता के साथ आनन्द प्राप्त करती है।

उसी प्रकार एक मुक्त हृदय एक ऐसा हृदय होता है जो स्नेह तथा आवेग के झोंकों औऱ तूफानों से छुटकारा पा लेता है। दुःख, क्रोध, घृणा, भय, प्रेम की विषमता, हर्ष की क्षुब्धता तथा शोक की पीड़ा समतापूर्ण हृदय से झड़ जाते हैं औऱ यह विशाल, शान्त, समतापूर्ण, ज्योतिर्मय औऱ दिव्य वस्तु हृदय रह जाता है। हमारी सत्ता की तात्विक प्रकृति पर ये चीजें आश्रित या भार नहीं हैं बल्कि हमारी बाह्य या बहिर्मुख क्रियाशील मानसिक तथा प्राणिक प्रकृति की वर्तमान बनावट तथा इसके परिवेश के साथ आदान-प्रदान के परिणाम हैं। अहंकार का बोध, जो हमें पृथक् सत्ताओं के समान क्रिया करने के लिए प्रेरित करता है, इस पथभ्रष्टता के लिए उत्तरदायी है क्योंकि ये पृथक् सत्ताएं अपने-अपने पृथक् दावे पेश करती हैं और विश्व के मूल्यों के परीक्षण का अनुभव लेती हैं। जब हम अपने अन्दर तथा विश्व की आत्मा में, भगवान के साथ एकता में निवास करते हैं, ये अपूर्णताएं हमारी प्रकृति से झड़ जाती हैं औऱ आन्तरिक आध्यात्मिक सत्ता के शान्त, एकसम शक्ति तथा आनन्द में विलीन हो जाती हैं। वह हमेशा हमारे अन्दर विद्यमान रहती है औऱ बाह्य स्पर्शों को हमारे अन्तस्तलीय (subliminal) चैत्य आत्मा के मार्ग के द्वारा पहुँचने के पहले — जो सत्ता के आनन्द का गुप्त यन्त्र है -- रूपान्तरित कर देती है। हृदय की समता के द्वारा हम सतही क्षुब्ध कामनात्मा (desire soul) से मुक्त हो जाते हैं, इस गंभीरतर सत्ता के द्वारों को खोलते हैं, इसकी प्रतिक्रियाओं को प्रकाशित करते हैं औऱ उनके सच्चे दिव्य मूल्यों को उन सब पर आरोपित करते हैं जो हमारी भावनात्मक सत्ता को लुभाते औऱ अशान्त करते हैं। एक मुक्त, प्रसन्नचित्त, समतापूर्ण तथा आध्यात्मिक भावना का सर्वसमाविष्टकारी हृदय इस पूर्णता का परिणाम है।

इस पूर्णता में भी एक कठोर तपस्वी की असंवेदनशीलता, एक एकान्त आध्यात्मिक उदासीनता या आत्मदमन के एक तनावपूर्ण कठोर संयम का प्रश्न नहीं उठता। यह भावनात्मक प्रकृति को मारना नहीं बल्कि

उसका रूपान्तरण करना है। जो कुछ भी सब अपने को हमारी बाहरी प्रकृति में विकृत या अपूर्ण रूप में प्रस्तुत करता है उसका महत्व और उसकी उपयोगिता है जो बाहर तब प्रकट होती है जब हम भागवत सत्ता के महत्तर सत्य को पुनः प्राप्त कर लेते हैं। प्रेम को नष्ट नहीं किया जायेगा बल्कि परिपूर्ण किया जायेगा, विशालतम क्षमता तक इसे विस्तारित किया जायेगा, आध्यात्मिक आनन्द की गहराई तक गहन बनाया जायेगा, भगवान का प्रेम, मानव प्रेम, सभी वस्तुओं का प्रेम जो हम सब का ही अपना, भगवान का, सभी सत्ताओं का और शक्तियों का ही रूप होगा। एक विशाल विश्वव्यापक प्रेम, जो विविध सम्बन्धों के लिए बिलकुल असमर्थ न होगा, शोर मचानेवाले , अहंकारी, स्वार्थी प्रेम का — जो दुःख, मांगों, क्रोध, ईर्ष्या, सम्बन्ध-विच्छेद से जर्जर रहता है — स्थान ले लेगा। दुःख नाम की कोई चीज न होगी, बल्कि एक विश्वव्यापी, एक समतापूर्ण प्रेम तथा सहानुभूति इसके स्थान पर होगी, दुःख झेलनेवाली सहानुभूति नहीं, बल्कि एक ऐसी शक्ति, जो स्वयं मुक्त होती है और दूसरों को बल प्रदान करने, मदद करने तथा मुक्त करने के लिए पर्याप्त सशक्त होती है। मुक्त आत्मा के लिए क्रोध और घृणा असंभव हैं किन्तु भगवान की शक्तिमान रुद्र ऊर्जा के लिए नहीं जो घृणा किये बिना युद्ध कर सकती है औऱ क्रोध से मुक्त होकर संहार कर सकती है क्योंकि सर्वदा वस्तुओं के प्रति सचेतन रह कर यह अपने अंशों के रूप में अपनी ही अभिव्यक्तियों को नष्ट करती है और इसीलिए अपनी सहानुभूति तथा उनके ज्ञान में जिनमें ये अभिव्यक्तियाँ रूप ग्रहण करती हैं अपरिवर्तित एकसम रहती है। हमारी समस्त भावनात्मक प्रकृति इस उच्च मुक्तिदायक रूपान्तरण की प्रक्रिया से गुजरेगी, किन्तु ऐसा हो सके इसके लिए एक पूर्ण समता प्रभावकारी शर्त है।

वही समता हमारी अपनी शेष सत्ता में लानी होगी। हमारी समस्त गत्यात्मक सत्ता असमान आवेगों यानी निम्न अज्ञानमय प्रकृति की अभिव्यक्तियों के प्रभाव के नीचे कार्य कर रही है। इन आवेगों का हम आदेश-पालन करते हैं अथवा आंशिक रूप से इन्हें नियंत्रित करते हैं अथवा हम अपनी बुद्धि, परिष्कृत सौन्दर्य बोध, मन तथा नियमनकारी नैतिक धारणाओं के परिवर्तनशील तथा परिष्कारी प्रभावों को उन पर आरोपित करते हैं। ... ये चीजें निस्सन्देह हमारे आध्यात्मिक विकास के लिए अभी बहुत आवश्यक हैं। किन्तु एक महत्तर पूर्णता का जिज्ञासु इन सभी द्वैतों से पीछे हट जायेगा, एक समतापूर्ण दृष्टि से इन्हें देखेगा तथा समता के द्वारा गत्यात्मक तपस, आध्यात्मिक शक्ति की एक निष्पक्ष तथा विश्वव्यापी क्रिया के निर्णय पर पहुँचेगा, जिसमें उसकी अपनी शक्ति और उसका संकल्प दिव्य कार्यप्रणाली के एक महत्तर शान्त रहस्य के विशुद्ध औऱ न्यायपूर्ण यन्त्रों में बदल जाते हैं। सामान्य मानसिक मानदण्ड इस गत्यात्मक समता के आधार पर अतिक्रमित हो जायेगा। उसके संकल्प की दृष्टि दिव्य सत्ता की एक विशुद्धता की ओर देखेगी, दिव्य ज्ञान द्वारा मार्गदर्शित दिव्य संकल्प शक्ति के प्रयोजन की ओऱ — जिसका यन्त्र बनेगी उसकी पूर्णकृत और परिष्कृत प्रकृति। जब तक गत्यात्मक अहंकार भावनात्मक तथा प्राणिक आवेगों औऱ व्यक्तिगत निर्णय की प्राथमिकताओं के वशीभूत होकर उसकी क्रिया में हस्तक्षेप करता रहेगा तब तक यह पूर्णतया असम्भव रहेगा। संकल्प की एक पूर्ण समता एक ऐसी शक्ति है जो निम्न आवेग की गांठों को खोल देगी। यह समता निम्न आवेगों का प्रत्युत्तर नहीं देगी बल्कि मन से परे ज्योति से आती एक महत्तर दृष्टिवान प्रेरणा की प्रतीक्षा करेगी तथा बौद्धिक निर्णय के अनुसार न धारणा बनायेगी, न क्रिया करेगी बल्कि अन्तर्दृष्टि के ऊर्ध्व लोक से प्रबोधन तथा निर्देशन के लिए इन्तजार करेगी। जैसे - जैसे यह ऊपर अतिमानस की ओर आरोहण करेगी और अन्दर की ओर आध्यात्मिक विशालता में विस्तारित होगी वैसे - वैसे गत्यात्मक प्रकृति भावनात्मक तथा प्राणिक प्रकृति के समान रूपान्तरित और अध्यात्मीकृत होती जायेगी तथा दिव्य प्रकृति की शक्ति में संवर्धित होगी। ठोकरें औऱ भूलें बहुत होंगी तथा उनकी नई कार्य प्रणाली में यन्त्रों के सामंजस्य की अपूर्णताएं रहेंगी, किन्तु उत्तरोत्तर वर्धनशील समतापूर्ण आत्मा इन चीजों पर दुःखी

या क्षुब्ध नहीं होगी क्योंकि अन्दर तथा मन के ऊपर की ज्योति और शक्ति के मार्गदर्शन में यह दृढ़ आश्वासन के साथ अपने मार्ग पर बढ़ती जायेगी तथा स्थिरता के साथ उतार-चढ़ाव औऱ रूपान्तरण की प्रक्रिया की प्रतीक्षा करेगी। गीता में भागवत सत्ता का यह वादा इसके दृढ़ निश्चय का लंगर या आश्रय स्थल होगा, **"सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज, अहं त्वा सर्व पापेम्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।"**

चिन्तनशील मन की समता प्रकृति में यन्त्रों की पूर्णता का एक अंग और एक बहुत महत्वपूर्ण अंग होगी। हमारी बौद्धिक प्राथमिकताओं, हमारे निर्णयों, धारणाओं, कल्पनाओं, स्मृति के सीमित संस्कारों के प्रति आसक्ति को, जो हमारी मानसिकता के आधार हैं, हमारी वर्तमान आकर्षक आत्म-औचित्यपरक आसक्ति को दूसरी आसक्तियों के समान ही चले जाना होगा तथा एक समतापूर्ण अन्तर्दृष्टि की तटस्थता के समक्ष झुकना होगा। समतापूर्ण वैचारिक मन, ज्ञान और अज्ञान पर तथा सत्य तथा असत्य पर इस प्रकार देखेगा कि ये द्वैतताएं चेतना की हमारी सीमित प्रकृति द्वारा तथा हमारी बुद्धि की आंशिकता और इसके तर्क तथा सहज बोध के तुच्छ भण्डार द्वारा निर्मित किये गये हैं और दोनों को किसी एक से बंधे बिना स्वीकार करेगा तथा ज्योतिर्मय ज्ञानातीत प्रेरणा की प्रतीक्षा करेगा। अज्ञान में यह ज्ञान देखेगा जो अभी बन्दी बना हुआ है और मुक्ति के लिए प्रतीक्षा कर रहा है। असत्य या भूल में कार्यरत सत्य को देखेगा जो भटक गया है या अन्धे मन द्वारा भ्रामक रूपों में फेंक दिया गया है। .... चिन्तनशील मन की यह पूर्ण समता अनिवार्य है क्योंकि इस प्रगति का उद्देश्य महानतर ज्योति है जो आध्यात्मिक परिज्ञान के उच्चतर लोक की है। यह समता सबसे अधिक सूक्ष्म और सबसे अधिक कठिन है जिसका मानव मन द्वारा अभ्यास शायद ही किया जाता है।

इसकी पूर्णता तब तक असम्भव है जब तक अतिमानसिक ज्योति उर्ध्वमुखी मानसिकता पर पूर्ण रूप से नहीं पड़ती। किन्तु मानसिक तत्व पर मुक्त रूप से ज्योति की क्रिया से पूर्व समता के लिए बुद्धि में क्रमशः वर्धनशील संकल्प की आवश्यकता है। यह समत्ता भी बुद्धि की जिज्ञासा और उसके वैश्व प्रयोजनों को इनकार नहीं करती, न उदासीनता, न तटस्थ अविश्वास औऱ न अनिर्वचनीय की नीरवता में विचारों को शान्त करने की आवश्यकता समझती है। मानसिक विचारों की नीरवता अनुशासन का अंग हो सकती है जब उद्देश्य यह हो कि अपनी आंशिक कार्यप्रणाली से मन को इसलिए रिक्त रखा जाये कि यह उच्चतर ज्योति तथा ज्ञान का एक सम प्रणाल बन सके। किन्तु मानसिक द्रव्य का रूपान्तरण भी करना होगा अन्यथा उच्चतर ज्योति मानव सत्ता में भागवत चेतना के आदेशित कार्य के लिए पूर्ण अधिकार तथा आवश्यक आकार ग्रहण नहीं कर सकती। अनिर्वचनीय की नीरवता भागवत सत्ता का एक सत्य है किन्तु उस नीरवता से आनेवाली वाणी भी सत्य है औऱ इसी वाणी को प्रकृति के सचेतन रूप में एक देह का आकार दिया जाना है।

अन्त में, प्रकृति का यह सब समकरण (equalization) उच्चतम आध्यात्मिक समता के लिए एक तैयारी है जिसमें समस्त सत्ता पर अधिकार किया जा सके औऱ एक व्यापक वातावरण बनाया जा सके जिसमें भागवत ज्योति, शक्ति, आनन्द मानव में अपने को वर्धनशील पूर्णता के साथ व्यक्त कर सके। वह समता सच्चिदानन्द की शाश्वत समता है। यह असीम सत्ता की समता है जो स्वयंम्भू है, शाश्वत पुरुष की समता। यह अपने ढांचे में मन, हृदय, संकल्प, प्राण, भौतिक सत्ता को ढालेगा। यह असीम आध्यात्मिक चेतना की समता है जो अपने अन्दर भागवत ज्ञान के आनन्दपूर्ण प्रवाह तथा सन्तुष्ट तरंगों को समाविष्ट करेगी। यह भागवत तपस की समता है जो समस्त प्रकृति में भागवत संकल्प के ज्योतिर्मय कर्म को आरम्भ करेगी। यह भागवत आनन्द की समता है जो एक दिव्य वैश्व आनन्द, विश्वव्यापी प्रेम औऱ विश्वव्यापी सौन्दर्य के अनन्त बोध की क्रीड़ा स्थापित करेगी।

अनन्त की आदर्श समतापूर्ण शान्ति तथा स्थिरता हमारी सम्पूरित सत्ता का विस्तृत पर्यावरण होगा किन्तु वैश्व सम्बन्धों पर कार्य करती प्रकृति के द्वारा अनन्त की आदर्श समतापूर्ण तथा पूर्ण क्रिया सहज रूप से हमारी सत्ता में प्रवाहित होगी। समग्र योग में समता का यही अर्थ है।

The Synthesis of Yoga : pp. 701-708

— श्रीअरविन्द

पुष्प के समान बनो

पुष्प के समान बनो । व्यक्ति को हमेशा पुष्प के समान बनने का प्रयास करना चाहियेः निष्कपट, स्पष्टवादी, समतापूर्ण, उदार तथा सदय...

पुष्प अपने चारों ओर की सभी चीजों के प्रति उद्‌घाटित रहता है : प्रकृति, प्रकाश, सूरज की किरणें, वायु, इत्यादि । यह अपने परिवेश की समस्त वस्तुओं पर सहज रूप से प्रभाव डालता है । यह एक आनन्द और एक सौन्दर्य विकीर्ण करता है ।

यह स्पष्टवादी है : यह अपने सौन्दर्य का कुछ बी अंश छिपाता नहीं और अपने आप की ओर से मुक्त भाव से प्रवाहित होने देता है । इसके भीतर, इसकी गहराइयों में जो कुछ है उसे बाहर आने देता है जिससे प्रत्येक व्यक्ति उसे देख सके ।

यह समतापूर्ण है : इसकी कोई प्राथमिकता नहीं । प्रत्येक व्यक्ति प्रतिस्पर्धा के बिना इसके सौन्दर्य, इसकी सुगन्ध का आनन्द ले सकता है । यह प्रत्येक व्यक्ति के लिए एकसम बना रहता है । कोई विभिन्नता नहीं ।

और उदार : बिना कुछ बचाये, बेरोक-टोक, यह किस प्रकार अपना रहस्यमय सौन्दर्य और प्रकृति की अपनी सुगन्ध दान कर देता है । यह हमलोगों के आनन्द के लिए अपना सम्पूर्ण बलिदान कर देता है । यहाँ तक कि इस सौन्दर्य तथा अपने अन्दर एकत्र चीजों के रहस्य को अभिव्यक्त करने के लिए अपने प्राण भी न्यौछावर कर देता है ।

और फिर सदय : यह कितना कोमल, कितना मधुर, हमलोगों के साथ घनिष्ठ, कितना स्नेही है यह ! इसकी उपस्थिति हमें आनन्द विभोर कर देती है । यह हमेशा प्रसन्नचित रहता है ।

वह भाग्यशाली है जो अपने गुणों का पुष्पों के सच्चे सद्‌गुणों के साथ आदान-प्रदान कर सकता है । अपने अन्दर उनके परिष्कृत गुणों का विकास करने का प्रयास करो ।...

(श्रीमाँ के साथ मोना सरकार की बातचीत — "स्वीट मदर : हारमोनिज ऑफ लाइट" पार्ट-२ में प्रकाशित)

— श्रीमाँ